उदार बुर्जुआ जनतंत्र और साम्यवाद

यदि आप संपत्तिविहीन लोगों को अनियंत्रित राजनीतिक अधिकार दे देते हैं और यदि कभी ये लोग विधायकों के बीच बैठने में कामयाब हो जाते हैं तो ये उद्वेलकों को भड़कायेंगे या उन्हें भड़कने देंगे, इस बात की चिंता किये बिना कि इनका परिणाम क्या होगा; ये उद्योग और कृषि पर हानिकारक कर लगा देंगे या लगाने देंगे; क्योंकि इन लोगों ने इनके खतरनाक परिणामों को या तो महसूस नहीं किया है या उससे डरते नहीं हैं या उन्हें देखा नहीं है। अंत में वे हमें उस हिंसक उथल-पुथल में ढकेल देंगे जिससे हम अभी-अभी निकल कर आये हैं।

-बासी डी 'आंग्ला (1795)

... ... 1990 के दशक के मध्य में वैश्विक मामलों की स्थिति : विश्व में चारों ओर कानून और व्यवस्था का खात्मा; असफल राज्य और विश्व के कई हिस्सों में बढ़ती अराजकता; कई समाजों में बढ़ती नशाखोरी, परिवार का आम तौर पर कमजोर होना; कई देशों में विश्वास और सामाजिक एकजुटता में कमी; जातीय, धार्मिक और सभ्यता के युद्ध तथा दुनिया के भारी हिस्से में प्रचलित बन्दूक का शासन। एक के बाद एक शहर-मास्को, रियो डि-जेनेरो, बैंकाक, शंघाई, लंदन, रोम, वारसा, जोहंसबर्ग, दिल्ली, कराची, काहिरा, बोगोटा, वाशिंगटन-में अपराध बढ़ रहे हैं, सभ्यता का बुनियादी तत्व तिरोहित हो रहा है। लोग सारी दुनिया में शासन के संकट की बात कर रहे हैं। आर्थिक सामानों को पैदा करने वाले राष्ट्रपारी निगमों के विकास के समांतर राष्ट्रपारी अपराध माफिया, नशा कार्टेल तथा आतंकवादी गैंगों का विकास हो रहा है जो सभ्यता पर खूंरेजी हमला कर रहे हैं। कानून और व्यवस्था सभ्यता की पूर्व आवश्यकता है और ज्यादातर दुनिया-अफ्रीका, लैटिन अमेरिका, भूतपूर्व सोवियत संघ, दक्षिण एशिया, मध्यपूर्व-में यह हवा हो रहा है जबकि चीन, जापान और पश्चिम में वह गंभीर हमले का शिकार है। वैश्विक पैमाने पर सभ्यता कई मायनों में बर्बरता के सामने पीछे हट रही है जिससे एक अभूतपूर्व परिघटना की तस्वीर सामने आती है-संभवतः मानवता पर एक वैश्विक अंधेरे का युग अवतरित हो रहा है।

- सैमुअल हंटिंगटन (1996)

... ... वास्तव में स्वतंत्रता के अधिक्षेत्र का आरंभ वहीं से होता है, जहां आवश्यकता और ऐहिक कारकों द्वारा निर्धारित श्रम बंद हो जाता है; अतः स्वाभाविक ही यह वास्तविक भौतिक उत्पादन के क्षेत्र के बाहर है। जिस प्रकार जंगली आदमी को अपनी आवश्यकताओं को तुष्ट करने के लिए, अपने जीवन के रक्षण और पुनरुत्पादन के लिए प्रकृति से जूझना होता है, उसी प्रकार सभ्य मानव को भी करना होता है और ऐसा उसे सभी सामाजिक संरचनाओं में और सभी संभव उत्पादन प्रणालियों के अंतर्गत करना होता है। उसके विकास के साथ भौतिक आवश्यकता का यह अधिक्षेत्र उसकी जरूरतों के परिणाम स्वरूप बढ़ता जाता है; लेकिन साथ ही वे उत्पादक शक्तियां भी बढ़ती जाती हैं जो इन जरूरतों की तुष्टि करती हैं। इस क्षेत्र में स्वतंत्रता सामाजिक मानव में प्रकृति के साथ अपने अंतर्विनिमय का युक्तिसंगत विनिमय करने वाले, प्रकृति की अंधशक्तियों की भांति उसके द्वारा शासित होने के बजाये, उसे अपने संयुक्त नियंत्रण के अधीन लाने वाले, और इसकी शक्ति न्यूनतम व्यय के साथ और अपने मानव स्वरूप के अधिकतम अनुकूल तथा उसके योग्य अवस्थाओं के अंतर्गत सिद्धि करने वाले सहयोगी उत्पादकों में ही सन्निहित हो सकती है। लेकिन फिर भी यह आवश्यकता का अधिक्षेत्र ही बना रहता है। इससे आगे मानव शक्ति का वह विकास शुरू होता है जो अपने आप में साध्य है, स्वतंत्रता का सच्चा अधिक्षेत्र है, किंतु जिसका मुकुलन आवश्यकता के इस अधिक्षेत्र को अपना आधार बना कर ही हो सकता है। कार्य दिवस का कम होना इसकी बुनियादी पूर्वापेक्षा है।

-कार्ल मार्क्स

विश्व पटल पर साम्यवाद के उदय होने के समय से ही शासक वर्ग इसे खारिज करने की हर चन्द कोशिश करते रहे हैं। इसके लिए धार्मिक से लेकर जीव वैज्ञानिक तक सारे तर्क पेश किये जाते रहे हैं। इसे मानव प्रकृति के प्रतिकूल घोषित किया जाता रहा है। जब सोवियत संघ में साम्यवाद के सिद्धान्तों ने व्यावहारिक रूप ग्रहण करना शुरू किया तो यह सब और बढ़ गया। यहां कहने की जरूरत नहीं कि शासक वर्गों द्वारा साम्यवाद पर यह वैचारिक हमला उनके द्वारा कम्युनिस्टों के भीषण दमन के साथ-साथ चलता था।

साम्यवाद पर वैचारिक हमलों में समय के साथ बुर्जुआ वर्ग का उदार बुर्जुआ जनतंत्र की जमीन से हमला बढ़ता गया है। बुर्जुआ वर्ग उदार बुर्जुआ जनतंत्र को प्रकृति और मानव स्वभाव के अनुकूल एकमात्र व्यवस्था घोषित करता रहा है और कहता रहा है

कि यही मानवता की अंतिम नियति है। इसके बरक्स वह साम्यवाद को एक कृत्रिम व्यवस्था बताता रहा है जिसकी परिणति केवल भांति-भांति की आपदा में ही हो सकती है। यहां यह महत्वपूर्ण है कि उदार बुर्जुआ जनतंत्र तब से यह बात करता रहा है जब वह आबादी के केवल छोटे से हिस्से को ही जनवादी आधार प्रदान करता था। यह एकमात्र तथ्य ही इसके वास्तविक चरित्र को उद्घाटित करने के लिए पर्याप्त है।

आज जब उदार बुर्जुआ जनतंत्र विश्व के प्रमुख देशों में मौजूद है तब बुर्जुआ वर्ग के लिए किसी बहाने की शरण लेना मुश्किल हो गया है। उसे अपनी आदर्श व्यवस्था की हकीकत से रूबरू होना पड़ रहा है। और यह हकीकत बहुत भयानक और वीभत्स है। यदि बुर्जुआ वर्ग के अनुसार यही मानवता की अंतिम नियति है तो बुर्जुआ वर्ग स्वयं ही मानवता द्वारा भर्त्सना किये जाने के लिए कटघरे में खड़ा हो जा रहा है। वह इससे 'कोई अन्य विकल्प नहीं' कहकर पलायन नहीं कर सकता।

इस लेख में उदार बुर्जुआ जनतंत्र की चीर-फाड़ की जायेगी और मानवता के भविष्य के बारे में इसके दावों का अवलोकन किया जायेगा।

I

इतिहास में उदार बुर्जुआ जनतंत्र

बुर्जुआ वर्ग के लिए यह कटु ऐतिहासिक सच्चाई है कि उसके द्वारा पेश किये जाने वाले आदर्श समाज यानी उदार बुर्जुआ जनतंत्र का जीवन महज एक सदी का या इससे भी कम का है जबकि स्वयं बुर्जुआ वर्ग का जीवन पांच सदी का है। बुर्जुआ के अनुसार सार्विक व स्वतंत्र मताधिकार पर आधारित चुनावी प्रणाली उदार बुर्जुआ जनतंत्र का सारतत्व है पर यह अधिकांश बुर्जुआ जनतंत्रों में बीसवीं सदी में ही हासिल हो पाया और वह भी बुर्जुआ वर्ग की इच्छा के खिलाफ। यानी बुर्जुआ वर्ग अपना अधिकांश ऐतिहासिक जीवन अपनी आदर्श व्यवस्था से भिन्न अन्य में जीता रहा और इस आदर्श व्यवस्था का विरोध करता रहा। जब मजदूर वर्ग एवं अन्य मेहनतकशों ने अपने संघर्षों के जरिये उस पर यह थोप दिया तो उसने इसे अपनी श्रेष्ठता घोषित कर दिया।

करीब पांच सदी के अपने इतिहास में बुर्जुआ वर्ग ज्यादातर समय राजशाही, सामंतशाही, तानाशाही या अल्पतांत्रिक शासन के तहत जीता रहा है। जनतंत्र से उसे कभी कोई खास लगाव नहीं रहा। उसके लिए हमेशा ही निर्णायक चीज केवल एक रही- उसके मुनाफे की ज्यादा से ज्यादा बढ़ोत्तरी। आर्थिक तौर पर प्रभुत्व हासिल करने के बाद जब वह शासन में भी हावी होने लगा तब भी जनतंत्र के प्रति उसने कोई विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। शासन में वह केवल अपनी श्रेष्ठता को सुनिश्चित करना चाहता था। शासक अभिजातों में वह भी अपनी जगह सुरक्षित करना चाहता था। इसे सबसे भली भांति प्रदर्शित किया था ब्रिटेन के पूंजीपति वर्ग ने जो एक लम्बे समय तक सर्वप्रमुख बुर्जुआ देश बना रहा। कहा जाता है कि दुनिया में उसकी ही संसदीय परम्पराएं सबसे प्राचीन और सबसे ज्यादा स्थापित हैं। वह इस हद तक है कि वहां कोई लिखित संविधान न होने के बावजूद सब कुछ मजे में चलता रहता है।

बुर्जुआ वर्ग की सारी इच्छा स्वयं के लिए आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रभुत्व हासिल करने की रही है। इसके लिए उसने पुराने सामंती शासकों से समझौता भी किया और कभी-कभी उनके समझौते के लिए राजी न होने पर उनसे युद्ध भी। बुर्जुआ वर्ग के समग्र इतिहास में पहला प्रधान रहा है और दूसरा गौण। यह इस कदर रहा है कि बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों के दौरान भी बुर्जुआ वर्ग की आम प्रवृत्ति सामंती तत्वों से समझौता कर लेने की रही है। इन सारी क्रांतियों में सारी उग्रता नीचे के वर्गों की ओर से रही है जिन्होंने बुर्जुआ वर्ग की इच्छा के खिलाफ इन क्रांतियों को आगे बढ़ाया। महान फ्रांसीसी क्रांति इसका प्रातिनिधिक उदाहरण है और यह याद रखना होगा कि यह क्रांति बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों की सिरमौर है।

बुर्जुआ वर्ग के इस व्यवहार का मूल कारण एक सम्पत्तिवान वर्ग होने के चलते उसका नीचे के सम्पत्तिविहीन या मामूली संपत्ति वाले लोगों से भयभीत होना रहा है। बुर्जुआ वर्ग का दुर्भाग्य भी रहा है कि उसे कभी उस तरह एकछत्र राज करने का मौका नहीं मिला जैसे समूचे मध्यकाल में सामन्तों को मिला था। बुर्जुआ वर्ग अभी सत्तानशीन हो ही रहा था कि उसने अपने नीचे के वर्गों को उसकी सत्ता में दावेदारी करते पाया। इतिहास में बुर्जुआ वर्ग अपने प्रतिध्रुव सर्वहारा के साथ ही अवतरित हुआ। और इस सर्वहारा ने बुर्जुआ वर्ग के समाज में हावी होते न होते सत्ता में भागेदारी का अपना दावा ठोंक दिया। भयभीत बुर्जुआ पीछे दुबक गया।

बुर्जुआ वर्ग ने अपने नीचे के वर्गों, खासकर सर्वहारा के दावों से निजात पुराने शासकों के साथ समझौते और नीचे के वर्गों को सीधे-सीधे सत्ता से बाहर रखने में पाई। उसने अपने जनतंत्र में पुराने वर्गों को तो जगह दी (इस प्रावधान के तहत कि वे धीमे-धीमे स्वयं को बुर्जुआ वर्ग में ढाल लेंगे) पर मजदूर वर्ग एवं अन्य मेहनतकशों को मताधिकार तक से वंचित रखा। ग्रेट ब्रिटेन में अठारहवीं सदी के लगभग अंत तक केवल तीन प्रतिशत लोगों को वोट देने का अधिकार था और संयुक्त राज्य अमेरिका में नया संविधान लागू होने के समय केवल छः प्रतिशत लोगों को। ये सारे सम्पत्तिवान गोरे पुरुष थे। सम्पत्तिविहीन गोरे पुरुषों, महिलाओं और गुलामों को वोट देने का अधिकार नहीं था। अमेरिका में 1776 में जिन मानव अधिकारों की घोषणा हुई थी वह केवल सम्पत्तिवान गोरे पुरुषों पर लागू

होती थी। जिन लोगों को जन्मना बराबर घोषित किया गया था वे केवल संपत्तिवान गोरे पुरुष थे। इसे जायज ठहराने के लिए कहा गया कि बाकी लोग आभासी ढंग से इस जनतंत्र में शामिल हैं।

बुर्जुआ जनतंत्रों में सम्पत्तिविहीनों को शामिल करने के भय को स्पष्ट शब्दों में बासी डी 'आंग्ला ने 1795 में तब व्यक्त किया था जब 1793 के संविधान (जो कभी लागू नहीं किया गया) के बदले एक नया संविधान तैयार किया जा रहा था। समूची फ्रांसीसी क्रांति के दौरान 1792 में कन्वेंशन का चुनाव ही वह चुनाव था जो सारे बालिग पुरुषों के सार्विक मताधिकार के जरिये हुआ था। बासी डी 'आंग्ला जैसे थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों के लिए यही वह कारण था जो जैकोबिनों के राज और 'आतंक के राज्य' की ओर ले गया जो न केवल पुराने सामंती अभिजातों के लिए बल्कि बड़े बुर्जुआ के लिए भारी विपदा साबित हुआ। तर्क बुद्धि और बुर्जुआ के इन अनुभवों से बुर्जुआ वर्ग को उन्नीसवीं सदी के अंत तक यह लगता रहा कि यदि जनतंत्र का विस्तार संपत्तिविहीन लोगों तक होता है तो उसका शासन खतरे में पड़ जायेगा। इसीलिए उसने इस विस्तार का हर संभव विरोध किया और मजदूर वर्ग व अन्य मेहनतकश जनता को इस विस्तार के लिए बुर्जुआ वर्ग से लम्बा संघर्ष करना पड़ा।

संपत्तिविहीनों से भय के अलावा बुर्जुआ वर्ग के अपने पूर्वाग्रह भी जनतंत्र के विस्तार में बाधक थे। खासकर यह महिलाओं के संदर्भ में था। बुर्जुआ वर्ग सामंती अभिजातों की तरह महिलाओं को नीची निगाह से देखता था। वह बौद्धिक तौर पर उनको अविकसित मानता था और स्वतंत्र निर्णय लेने में अक्षम। इसीलिए उसे लगता था कि स्वयं उसके वर्ग की महिलाएं भी राजनीतिक मामले में स्वतंत्र व्यवहार नहीं कर सकतीं। अतः उन्हें चुनने और चुने जाने का अधिकार नहीं दिया जा सकता था। मजे की बात यह है कि इंग्लैण्ड जैसे देश में यह तब भी होता था जब कोई रानी (एलिजाबेथ या विक्टोरिया) शासन कर रही होती थी। इसी तरह धार्मिक और नस्ली पूर्वाग्रह भी सम्पत्तिवानों तक को जनतंत्र में भागेदारी से वंचित करते थे। इंग्लैण्ड में कैथोलिक वोट से वंचित थे। नस्ल का मामला तो अक्सर ही औपनिवेशिक गुलामी से जुड़ जाता था जैसे कि इंग्लैण्ड के मामले में आयरलैण्ड का।

बुर्जुआ वर्ग अपनी पैदाइश से ही उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी रहा है। बस उसके उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का चरित्र बुर्जुआ वर्ग के विकास के साथ बदलता गया है। उपनिवेश और साम्राज्य कायम करने में बुर्जुआ वर्ग ने स्थानीय लोगों का सफाया किया, उन्हें गुलाम बना कर बेचा और उनसे काम भी करवाया। भारत जैसे विकसित देशों को गुलाम बना कर उन्होंने वहां लूट-पाट की। बुर्जुआ वर्ग का पांच सदियों का इतिहास इन सब करतूतों का भी इतिहास है। और ये सब बुर्जुआ वर्ग के लिए आकस्मिक नहीं थे। ये उसके अपने विकास का अहं और अनिवार्य हिस्सा थे। इस सब लूट-पाट ने ही बुर्जुआ वर्ग के औद्योगिक विकास को संभव बनाया जिसने अंततः यूरोप की भारत और चीन जैसे देशों पर श्रेष्ठता स्थापित की। इस उपनिवेशवादी लूट-पाट में किसी जनतंत्र की गुंजाइश नहीं थी और यूरोप के बुर्जुआ उपनिवेशवादी खुलेआम कहते भी थे कि गुलाम देशों के लोग स्वशासन के लायक नहीं हैं। इन असभ्य लोगों को सभ्य बनाना गोरे यूरोप का ऐतिहासिक मिशन है। संयुक्त राज्य अमेरिका में अश्वेत गुलामों के बारे में उनके श्वेत मालिक भी ऐसा ही सोचते थे।

जिस तरह बुर्जुआ देशों के भीतर सम्पत्तिविहीनों, महिलाओं, नस्ली व धार्मिक उत्पीड़न के शिकार लोगों ने अपने जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष किया उसी तरह गुलाम देशों के लोगों ने अपनी आजादी के लिए। बुर्जुआ उपनिवेशवादियों ने इन संघर्षों का बहुत क्रूरता से दमन किया। केवल बहुत लम्बे संघर्ष में अकूत कुरबानियां देकर ही ये देश आजाद हो पाये। उदार बुर्जुआ जनतंत्र का जाप करने वाले साम्राज्यवादी कभी अपनी मर्जी से या आसानी से पीछे नहीं हटे। एशिया, अफ्रीका, लैटिन अमेरिका का सारा इतिहास इन रक्तरंजित संघर्ष गाथाओं से भरा हुआ है।

समय के साथ बुर्जुआ वर्ग को पीछे हटना पड़ा। उसे धीमे-धीमे वंचित लोगों को अपने बुर्जुआ जनतंत्र में जगह देनी पड़ी। इनमें उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उभरे संगठित मजदूर आंदोलन का बहुत बड़ा हाथ था जिसकी एक प्रमुख मांग वयस्क मताधिकार भी थी। यह संगठित मजदूर आंदोलन ही था जिसने महिलाओं को सार्विक मताधिकार में शामिल करने की मांग की।

मजदूर वर्ग के इस संगठित संघर्ष के सामने पीछे हटते बुर्जुआ वर्ग को तब तेजी से पीछे हटना पड़ा जब रूस में बोल्शेविक क्रांति हो गई और नयी क्रांतिकारी सत्ता ने नस्ल, धर्म, राष्ट्रीयता, लिंग आदि पर आधारित सारे भेदभाव और उत्पीड़न को समाप्त करते हुए सबको चुनने व चुने जाने का अधिकार दे दिया। (पुराने शोषकों को तात्कालिक तौर पर इस अधिकार से वंचित करते हुए)। दुनिया भर की उत्पीड़ित-शोषित जनता को अतीव प्रेरणा प्रदान करने वाली इस क्रांति के प्रभाव को नकारना बुर्जुआ वर्ग के लिए असंभव हो गया। लोगों को मताधिकार तक से वंचित रखकर वह इस नयी व्यवस्था के सामने अपनी व्यवस्था की श्रेष्ठता की बात नहीं कर सकता था। मजबूरन उसे पहले सभी वयस्क पुरुषों को और फिर सभी महिलाओं को भी मताधिकार देना पड़ा। यह प्रक्रिया दूसरे विश्व युद्ध के बाद तक जारी रही। यूरोप के कई देशों सहित संयुक्त राज्य अमेरिका में तो यह 1960 व 70 के दशक तक जारी रही। अपने जनतंत्र की डींग हांकने वाले अमरीकी साम्राज्यवादी बुर्जुआ ने अपने यहां अश्वतों को पूर्ण अधिकार 1960 के दशक के नागरिक अधिकार आंदोलन के बाद ही दिया।

अभी तक सारी चर्चा बुर्जुआ जनवादी जनतंत्र में सारे वयस्क लोगों को शामिल करने तक की रही है। जब तक सम्पत्तिविहीन और अन्य शोषित-उत्पीड़ित लोग इस बुर्जुआ जनतंत्र से औपचारिक तौर पर भी बाहर थे तब तक उनके लिए इसके वास्तविक सारतत्व का कोई खास मतलब नहीं था। पर उनके इसमें शामिल हो जाने के बाद क्या हुआ? क्या बुर्जुआ जनतंत्र अब बुर्जुआ वर्ग की शासन व्यवस्था होने के बदले 'जनता का, जनता के लिए' शासन हो गया?

बुर्जुआ जनतंत्र अपने शुरूआती दौर में पुराने अभिजाती शासन के बहुत नजदीक था। तब और क्या उम्मीद की जा सकती थी जब इस जनतंत्र में तीन या छः प्रतिशत लोग ही शामिल थे और जब बुर्जुआ वर्ग भी अपने जीवन के तौर-तरीकों में पुराने अभिजातों की नकल करता था? फर्क यह था कि यह शासन अभिजातों के विशेषाधिकारों की सुरक्षा के लिए नहीं बल्कि पूंजीवादी व्यवसाय की सुरक्षा के लिए था। इसके सारे नियम कानून इस व्यवसाय को प्रोत्साहन देते थे। मजदूर वर्ग एवं अन्य मेहनतकश जनता के प्रति बुर्जुआ वर्ग का दृष्टिकोण पुराने अभिजातों से बहुत भिन्न नहीं था। केवल समय के साथ और वह भी इन वर्गों के संघर्ष के कारण ही यह दृष्टिकोण बदला।

समय के साथ बुर्जुआ जनतंत्र दोनों ओर से बदला। बुर्जुआ वर्ग ज्यादा बुर्जुआ होता चला गया और अभिजातों की जीवन शैली से उसकी दूरी बढ़ती गई। दूसरी ओर स्वयं अभिजात भी अब ज्यादा से ज्यादा बुर्जुआ होते गये। जहां उन्नीसवीं सदी के अंत तक बुर्जुआ पुराने अभिजात खानदानों में शादी-ब्याह कर गौरवान्वित महसूस करता था वहीं बीसवी सदी में यह अप्रासंगिक होने लगा। अंततः बुर्जुआ वर्ग और उसका जनतंत्र अपने अभिजात खोल को त्यागने लगा।

दूसरी ओर से नीचे के वर्गों के इस बुर्जुआ जनतंत्र में समाहन ने भी इसको बदला। अब बुर्जुआ वर्ग को मजबूर होना पड़ा कि वह नीचे के वर्गों पर न केवल ध्यान दे बल्कि उनके हिसाब से स्वयं को ढाले। अंततः 'कल्याणकारी राज्य' इसी प्रक्रिया का परिणाम था। बुर्जुआ वर्ग अभी अपने अभिजात खोल से मुक्त हो नहीं पाया था कि उसे नये वर्ग की चुनौती के फलस्वरूप 'कल्याणकारी राज्य' का चोला ओढ़ना पड़ा। एकछत्र शासन वह कभी नहीं कर पाया।

लेकिन यहीं पर बुर्जुआ जनतंत्र की एक उल्टी गति को भी रेखांकित करना जरूरी है। बुर्जुआ वर्ग अपने जनतंत्र की पैदाइश के समय से ही भयभीत रहा था कि यदि सम्पत्तिविहीन लोग उसके जनतंत्र में प्रवेश कर जाते हैं तो उसका अपना वर्चस्व खतरे में पड़ जायेगा। उसे लगता था कि संख्या में अति विशाल बहुसंख्या होने के चलते जनतंत्र में शामिल होने पर इनके वर्चस्व को रोका नहीं जा सकता। बासी डी 'आंग्ला ने 1795 में इसी भय को स्वर दिया था। पर जब वास्तव में सम्पत्तिविहीन वर्ग बुर्जुआ जनतंत्र में शामिल हो गया तो क्या हुआ? क्या बुर्जुआ वर्ग का वर्चस्व समाप्त हो गया? नहीं। ऐसा नहीं हुआ।

तब बुर्जुआ वर्ग ने यह चमत्कार कैसे हासिल किया? बुर्जुआ जनतंत्र में कैसे उसने अपने वर्चस्व को अक्षुण्ण रखा? उसने यह हासिल किया बुर्जुआ जनतंत्र को पूर्णतया औपचारिक बना कर। उसने बुर्जुआ जनतंत्र को समय-समय पर होने वाले मतदान तक सीमित कर दिया। इस जनतंत्र में विशाल बहुसंख्या की भूमिका बस इतनी रह गई कि वह समय-समय पर होने वाले चुनाव में मतदान कर दे। मार्क्स के शब्दों में विशाल जनता के लिए इसका केवल इतना ही मतलब था कि वह चुने कि कौन उसका प्रतिनिधित्व करेगा और दमन करेगा। इन प्रतिनिधियों से राज्य के निर्णयों को अप्रभावित रखने के लिए संसद अप्रासंगिक बना दी गई। सारे महत्वपूर्ण निर्णय पर्दे के पीछे लिए जाने लगे। संसदीय बहसों का कोई मतलब नहीं रह गया। वे महज गपबाजी का अड्डा बन गईं।

समय के साथ इसमें और विकास हुआ तथा चुनाव पैसे का खेल और तमाशा बन कर रह गये। आम जनता ने देखा कि वह चुनावों के जरिये राज्य की नीतियों को प्रभावित करने में अक्षम है। चुनावों से उसकी अन्यमनस्कता बहुत बढ़ गई। जैसे-जैसे बुर्जुआ वर्ग द्वारा अपने जनतंत्र का गुणगान बढ़ता गया वैसे-वैसे बुर्जुआ जनतंत्र का यह खोखलापन भी बढ़ता गया। इसी के साथ इसके प्रति व्यापक जनता की विरक्ति भी बढ़ती गई।

बुर्जुआ वर्ग का यह मजेदार विरोधाभास है। जब उसका बुर्जुआ जनतंत्र केवल थोड़े से लोगों तक सीमित था तब वास्तव में इसमें कुछ दम था। बुर्जुआ राज्य की नीतियां यह बुर्जुआ जनतंत्र तय करता था। पर जब यह जनतंत्र वास्तव में व्यापक जन तक विस्तारित हो गया तब इसका दम निकल गया। यह महज औपचारिक हो गया। बुर्जुआ राज्य की नीतियां निर्धारित करने की इसकी क्षमता समाप्त हो गई।

ध्यान से देखें तो इसमें विरोधाभास नहीं है। पहले और बाद में दोनों समय बुर्जुआ राज्य को संचालित करने का काम बुर्जुआ वर्ग ही करता रहा है। पहले वह अपने तक सीमित जनतंत्र के जरिये करता था, अब वह परदे के पीछे से यही करता है। बुर्जुआ राज्य को अभी भी तीन या पांच प्रतिशत लोग ही चला रहे हैं-अपने लिए बस वे सार्विक मताधिकार पर आधारित समय-समय पर होने वाले चुनावों के जरिये व्यापक जनता में यह भ्रम बनाए रखते हैं कि शासन जनता चला रही है। बुर्जुआ जनतंत्र में पहले भी 'ओलीगार्की' (थोड़े से लोगों का शासन) था और आज भी है। बुर्जुआ जनतंत्र हमेशा ही 'बुर्जुआ द्वारा, बुर्जुआ का, बुर्जुआ के लिए' रहा है।

II

वर्तमान उदार बुर्जुआ जनतंत्र की हकीकत

जैसा की ऊपर कहा गया है,आज बुर्जुआ जनतंत्र एकदम औपचारिक बन गया है (और हम आगे देखेंगे कि इसके प्रवक्ता इसे औपचारिक बनाये रखने पर जोर देते हैं)। राज्य के संचालन में यह जनतंत्र अप्रासंगिक हो गया है। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट करेंगे।

हाल ही में ग्रीस में एक नयी पार्टी सीरिजा ठीक इसी मुद्दे पर सत्ता में आई कि वह संकटग्रस्त ग्रीस पर अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की संस्थाओं द्वारा थोपे जा रहे किफायती कदमों (जिसका वास्तविक आशय मजदूर वर्ग के जीवन स्तर में गिरावट है) का विरोध करेगी। चुनाव जीतने के बाद अपने चुनावी वायदों के हिसाब से चलने के बदले उसने एक बार फिर इस बात के लिए जनमत संग्रह करवाया कि वित्तीय पूंजी द्वारा थोपी जा रही शर्तों को माना जाये या नहीं। जनता द्वारा ना कहे जाने के बावजूद इस सरकार ने कुछ दिनों बाद ही इन शर्तों को मान लिया। यह बुर्जुआ जनतंत्र का खुला माखौल था पर बुर्जुआ हलकों में इसे सामान्य माना गया। यही नहीं, इन हलकों में सारी चिंता इस बात की थी कि कहीं सीरिजा सरकार जनमत के सामने समर्पण न कर दे।

सीरिजा का उदाहरण अकेला नहीं है। उदारीकरण के पिछले तीन-चार दशकों में लगभग हर देश में यह होता रहा है। बुर्जुआ पार्टियां उदारीकरण की नीतियों का विरोध कर सत्ता में आती रहीं हैं और फिर इन नीतियों पर धड़ल्ले से चलती रही हैं। इस काल में शायद ही कोई बुर्जुआ पार्टी रही हो जो इन नीतियों का समर्थन कर सत्ता में आई हो।

इस तरह बुर्जुआ वर्ग ने अपने राज्य के संचालन का औपचारिक बुर्जुआ जनतंत्र से विच्छेद कर लिया है। इस विच्छेद के जरिये उसने अपने पूंजी के शासन को सुरक्षित कर लिया है। पर इस प्रक्रिया में उसने बुर्जुआ जनतंत्र को बेहद छिछले तमाशे में रूपान्तरित कर दिया है।

आज सारे ही बुर्जुआ जनतंत्रों में चुनाव पैसे और तमाशे का अजीब सा मिश्रण है। इसके जरिये बुर्जुआ जनतंत्र की हकीकत पर पर्दा डालने की कोशिश की जाती है और किसी तरह से वोट हासिल करने का प्रयास किया जाता है। इसके बाद सरकारें बनाने-बिगाड़ने का, खरीद-फरोख्त का दौर चलता है। गाली-गलौच, जूतम-पैजार और भ्रष्टाचार के आरोप-प्रत्यारोप में कुछ साल निकल जाते हैं और फिर अगले चुनाव आ जाते हैं। चुनाव-दर-चुनाव यह सब चलता रहता है। इस बीच पूंजी और उसके मालिक लूट-पाट का अपना व्यवसाय जारी रखते हैं तथा जनतंत्र के झीने से पर्दे के पीछे से बुर्जुआ राज्य इस व्यवसाय की सुरक्षा में लगा रहता है।

आधुनिक बुर्जुआ जनतंत्र में औपचारिक जनतंत्र कितना खोखला हो गया है वह इस बात से भी रेखांकित होता है कि अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी की, साम्राज्यवादी पूंजी की गति में इस औपचारिक जनतंत्र से कोई फर्क नहीं पड़ता। आज वह चुनावों के परिणामों की भी चिंता नहीं करती क्योंकि वह आश्वस्त है कि चुनाव परिणाम चाहे जो हों, होगा वही जो वह चाहती है। आज उसे चुनाव परिणामों को प्रभावित करने या चुने हुए प्रतिनिधियों को खरीदने की भी जरूरत नहीं है। संबंधित देश की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर देने की परोक्ष धमकी ही उसके मानमाफिक परिणाम पैदा कर देती है। इस तरह देखा जाये तो आज बुर्जुआ जनतंत्र असल में 'वित्त पूंजी द्वारा, वित्त पूंजी के लिए' है। वैसे यह कहना होगा कि आज इस वित्त पूंजी के सामने बुर्जुआ जनतंत्र ही नहीं, बल्कि हर तरह की तानाशाहियां भी नतमस्तक हैं। असल में दुनिया भर में वित्त पूंजी ही राज कर रही है। भांति-भांति के सारे शासक उसी के एजेन्ट हैं।

वित्त पूंजी का यह प्रभुत्व कोई आज की बात नहीं हैं इसके प्रभुत्व को अब एक सदी हो चुकी है। पर समय के साथ यह प्रभुत्व और ज्यादा गहन और व्यापक होता गया है। यह वित्त पूंजी अपनी प्रकृति में ही प्रतिक्रियावादी, स्वतंत्रता की दुश्मन और जनवाद विरोधी रही है। इसीलिए इसके प्रभुत्व के साथ ये प्रवृत्तियां बढ़ती गई हैं। आज साम्राज्यवादी देशों में एक सैन्य -औद्योगिक निजाम हावी है जो वित्त पूंजी की तानाशाही को बर्बरता की सीमा तक पहुंचा रहा है। देशों को तबाह करना उसका चुटकियों को खेल है। बुर्जुआ जनतंत्र उसके लिए बस एक झीना पर्दा है जिसे कभी भी खिसकाया जा सकता है।

इसी का यह परिणाम हुआ है कि एक ओर जहां औपचारिक बुर्जुआ जनतंत्र का विस्तार हुआ है (मजदूर वर्ग के संघर्ष के फलस्वरूप) वहीं दूसरी ओर वह किसी वास्तविक सारतत्व से वंचित होता गया है। बीच में बुर्जुआ वर्ग पर जो 'कल्याणकारी राज्य' थोपे गये वे मजदूर वर्ग के संघर्षों और समाजवाद के परिणाम थे। इनके पराजित होते ही बुर्जुआ वर्ग ने इन 'कल्याणकारी राज्यों' से मुक्ति पा ली। पिछले तीन-चार दशकों के उदारीकरण के दौर में बुर्जुआ वर्ग अपने इतिहास में सबसे ज्यादा स्वेच्छाचारी ढंग से और एकछत्र राज कर रहा है। इसीलिए उसकी उद्दंडता हर जगह जाहिर हो रही है।

पर ठीक यही स्थिति उदार बुर्जुआ जनतंत्र की ऐतिहासिक सीमा को सबसे भली-भांति प्रकट कर देती है। लगभग चुनौती विहीन बुर्जुआ वर्ग और उसके बुर्जुआ जनतंत्र को समाज में वह व्यवस्था कायम करनी चाहिए थी जिसमें ज्यादातर लोग स्वयं को संतुष्ट महसूस करें। किसी भी सामाजिक व्यवस्था की दीर्घजीविता इस बात पर निर्भर करती है कि ज्यादातर लोग उस व्यवस्था में विश्वास करें और उनकी असंतुष्टि कम से कम हो।

पर आज हम क्या देखते हैं? यूरोप-अमेरिका के विकसित बुर्जुआ जनतंत्र भी भीषण समस्याओं से ग्रस्त हैं। वे इस हद तक हैं कि शासक बुर्जुआ वर्ग को भी इस संकट को स्वीकार करना पड़ रहा है। स्वयं उदार बुर्जुआ जनतंत्र का राजनीतिक ताना-बाना भी खतरे में है। वहां यह खतरा मौजूद है कि इस ताने-बाने को समाप्त कर फासीवादी निजाम कायम हो जायें। यूरोप का कोई ऐसा देश नहीं जहां नव नाजीवादी या फासीवादी चढ़ती पर न हों। संयुक्त राज्य अमेरिका में तो दो प्रमुख बुर्जुआ पार्टियों में से एक इधर की ओर बढ़ रही है। उसका राष्ट्रपति खुलेआम बुर्जुआ जनतांत्रिक संस्थाओं की धज्जियां उड़ा रहा है। दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की संज्ञा से विभूषित भारत में आज हिंदू फासीवादी पार्टी सत्ता में है और वह कदम-ब-कदम फासीवादी निजाम की ओर बढ़ रही है। भारत का बुर्जुआ वर्ग तालियां पीट कर इसे प्रोत्साहित कर रहा है।

इन बुर्जुआ जनतंत्रों में नागरिकों की स्वतंत्रता के क्या हाल हैं जिनका बुर्जुआ वर्ग इतना गुणगान करता है? ये बुर्जुआ जनतंत्र अपने नागरिकों पर निगाह व नियंत्रण रखने वाले विशाल तंत्र में तब्दील हो गये हैं। कानूनों में फेरबदल कर नागरिकों की ज्यादातर

आजादी को छीन लिया गया है। रहे-सहे अधिकार गैरकानूनी ढंग से कभी भी छीन लिये जाते हैं। ग्वान्तानामो बे इसका प्रातिनिधिक उदाहरण है। मजे की बात है कि यह सब किया जा रहा है इसी बुर्जुआ जनतंत्र की रक्षा के नाम पर। बुर्जुआ जनतंत्र को उसके ही नागरिकों से बचाने के लिए नागरिकों के अधिकार छीन लिये जा रहे हैं।

यह तथ्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि यदि उन्नीसवीं सदी के उदार बुर्जुआ जनतंत्र से आज के बुर्जुआ जनतंत्र की तुलना करें तो यह बहुत-बहुत दमनात्मक साबित होगा। आज के उदार बुर्जुआ जनतंत्र में उदार कुछ भी नहीं है सिवाय पूंजी को लूट की छूट के। यह तब के मुक्त प्रतियोगिता वाले बुर्जुआ वर्ग और आज के वित्त पूंजी के स्वामी साम्राज्यवादी बुर्जुआ वर्ग के बीच का फर्क है। घोर प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग का जनतंत्र और कुछ हो भी नहीं सकता।

बुर्जुआ जनतंत्र से असंतुष्टि भांति-भांति के विद्रोहों में फूट रही है-खासकर पिछड़े मुल्कों में। आज यह अकारण नहीं है कि यूरोप अमेरिका के विकसित पूंजीवादी देश भी विखंडन के कगार पर हैं। कनाडा, बेल्जियम से लेकर यूके और स्पेन तक यह समस्या है। भारत जैसे पिछड़े मुल्कों में तो बुर्जुआ जनतंत्र बाकायदा सशस्त्र विद्रोह से जूझ रहे हैं जिनका राज्य सत्ता भयंकर दमन कर रही है। दुनिया भर में आज तीस-चालीस मुल्क ऐसे हैं जिनकी राज्य सत्ता अपने यहां के सशस्त्र विद्रोह से नहीं निपट पा रही है।

इन सबके ऊपर है 'असफल राज्य परिघटना'। इनसे यूरोप-अमेरिका के विकसित बुर्जुआ जनतंत्र यह कह कर नहीं मुक्त हो सकते कि यह पिछड़े मुल्कों की अपनी समस्या है। यह इसलिए कि इन 'असफल राज्यों' के लिए इन विकसित बुर्जुआ जनतंत्रों के मालिक यानी साम्राज्यवादी सीधे तौर पर जिम्मेदार हैं। अफगानिस्तान, इराक, लीबिया, सोमालिया, यमन इत्यादि सब इन्हीं के उत्पाद हैं। ये उदार बुर्जुआ जनतंत्र की वैश्विक व्यवस्था के अनिवार्य उत्पाद और अंग हैं। आज साम्राज्यवादी अपने देशों के भीतर शरणार्थी और आतंकवाद की जिस समस्या से जूझ रहे हैं, वह इनकी ही करतूतों का सीधा परिणाम हैं। ये इन्हीं की अवैध संतानें हैं जो पितृ ऋण चुकाने आ रही हैं।

उदार बुर्जआ जनतंत्र के इन राजनीतिक पहलुओं के साथ इनके आर्थिक, सामाजिक, पारिवारिक और सांस्कृतिक पहलू भी हैं। जब उदार बुर्जुआ जनतंत्र स्वयं को कम्युनिज्म के बरक्स पेश करता है तो ऐसा वह एक मुकम्मल व्यवस्था के तौर पर पेश करता है। इस मुकम्मल व्यवस्था के अन्य पहलुओं की क्या स्थिति है?

एकाधिकारी पूंजीवाद के भीषण संकट के इस जमाने में इसके बुर्जुआ समर्थकों के लिए इसकी सराहना करना असंभव हो गया है। अभी दो दशक पहले उन्होंने अपनी जो विजय पताका लहराई थी वह चिथड़े-चिथड़े हो चुकी है। वे पूरी बेशर्मी के साथ सरकारों पर निर्भर हैं- अपनी व्यवस्था को ढहने से बचाने के लिए। बेशर्मी इसलिए कि पिछले तीन-चार दशकों में यह उनका घोषित नारा रहा है कि सरकारों को अर्थव्यवस्था में दखलंदाजी नहीं करनी चाहिए। असल में वे यह चाहते रहे हैं, और यही होता रहा, कि सरकारें राजकीय संस्थानों का निजीकरण कर दें और मजदूर-मेहनतकश जनता के कल्याण के सारे काम बंद करें। इसके बदले सरकारें एकाधिकारी पूंजी की सेवा में हमेशा तत्पर रहें। इन सबका परिणाम है भयंकर गरीबी और असमानता। ज्यादातर आबादी का जीवन नारकीय हो चुका है और बद से बदतर होता जा रहा है। आक्सफेम जैसी बुर्जुआ दानदाता संस्थाएं लगातार बढ़ती असमानता पर चेतावनी दे रही हैं और टामस पिकेटी जैसे बुर्जुआ अर्थशास्त्री इस पर मोटी-मोटी किताबें लिख रहे हैं। यहां तक कि जॉर्ज सोरोस जैसे सट्टेबाज भी लगातार इस विकट होते हालात पर अपनी चिंता व्यक्त कर रहे हैं। उदार बुर्जुआ जनतंत्र ने अपने 'कल्याणकारी राज्य' के द्वारा ही अपने को एक बेहतर व्यवस्था के तौर पर पेश किया था। अब जबकि बुर्जुआ वर्ग स्वयं ही इस 'कल्याणकारी राज्य' की मिट्टी पलीद कर चुका है तब इस संकटग्रस्त बुर्जुआ जनतंत्र की हिमायत करने के लिए हद दरजे की बेहयाई की जरूरत होगी। पर अपनी व्यवस्था की हर कीमत पर रक्षा करने में लगे हुए बुर्जुआ वर्ग को इस बेहयाई पर उतरने में हिचक नहीं है।

मार्क्सवाद का हमेशा कहना रहा है कि पूंजी की गति में ही यह निहित है कि वह एक ओर पूंजी के संचय को और दूसरी और भुखमरी-बदहाली को जन्म देगी। बढ़ती असमानता और व्यापक जनता की बदहाली इसकी अनिवार्य गति है। मजदूर आंदोलनों और खासकर समाजवाद के दबाव में जब बुर्जुआ वर्ग ने कुछ समय के लिए 'कल्याणकारी राज्य' को स्वीकार किया तो इसे बुर्जुआ द्वारा इस रूप में प्रचारित किया गया कि बुर्जुआ समाज की विसंगतियां अब बीते जमाने की चीज हो गई हैं। पर ऐसा था नहीं और कुछ दशक बाद पूंजीवाद फिर अपने पुराने चिर-परिचित रास्ते पर लौट आया। आज हालात ये हैं कि अंतर्राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग 'मिलिनियम डिवलपमेन्ट गोल' के नाम से जो 'कल्याण' के नाममात्र के लक्ष्य तय करता है वे भी कभी हासिल नहीं किये जाते। यही नहीं, हालात बद से बदतर होते जा रहे हैं जिन्हें केवल आंकड़ों की बाजीगरी से ही छिपाया जा रहा है।

आज उदार बुर्जुआ जनतंत्र में व्यक्तिगत तौर पर जीवन की गुणवत्ता क्या है? अभी बहुत समय नहीं हुए जब यूरोप-अमेरिका के विकसित देशों के नागरिकों के बारे में कहा जाता था कि वे एक उपभोक्तावादी का संतुष्टि और ऊब से भरा हुआ जीवन जी रहे हैं। उदारीकरण के तीन-चार दशकों ने बुर्जुआ जनतंत्रों पर लगी यह तोहमत अब समाप्त कर दी है। अब इनके नागरिक लगातार असुरक्षा में जी रहे हैं। उनका रोजगार और उनकी आय सुरक्षित नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि जीवन अब उपभोक्तावादी नहीं रह गया है पर अब यह लगातार आशंकाग्रस्त है। नयी पीढ़ी स्वयं को पहले की पीढ़ी से खराब हालत में पा रही है।

बुर्जुआ जनतंत्रों के असुरक्षित व आशंका ग्रस्त नागरिकों का जीवन इसलिए और विकट हो गया है कि परिवार नाम की संस्था के विघटन के साथ पहले का भौतिक और भावनात्मक सहारा अब उन्हें उपलब्ध नहीं है। 'कल्याणकारी राज्य' के जमाने में भौतिक सहारा किसी हद तक राज्य ने प्रदान किया था जो अब गायब है। भावनात्मक सहारे की स्थिति और खराब है। ऐसे में तनाव भीषण पैमाने पर बढ़ रहे हैं जो समाज में बढ़ती हिंसा, नशाखोरी के साथ बढ़ते मानसिक रोगों में अभिव्यक्त हो रहे हैं।

इस तरह कुल मिलाकर देखें तो उदार बुर्जुआ जनतंत्र का समग्र ताना-बाना जर्जर हो रहा है। समाज में हिंसा का तत्व बढ़ रहा है और बुर्जुआ राज्य मशीनरी को कुछ और नहीं सूझ रहा है सिवाय इसके कि उसकी अपनी हिंसा की मशीनरी को और मजबूत किया जाय जिससे चीजों को नियंत्रित किया जा सके। पर यही बुर्जुआ जनतंत्र की असफलता की सबसे बड़ी अभिव्यक्ति भी है। यदि कोई व्यवस्था स्वयं को केवल बढ़ते पैमाने की हिंसा से ही बचा सकती है तो वह दीर्घजीवी नहीं हो सकती है जिस तरह क्रांति के लिए जरूरी है कि शासक शासन करने में अक्षम हो जायें और शासित शासित होने से इंकार कर दें, उसी तरह किसी व्यवस्था के चलते रहने के लिए जरूरी है कि शासक शासन करते रहें और शासित उसे स्वीकार करते रहें। बुर्जुआ जनतंत्रों में यही लगातार बढ़ते पैमाने पर असंभव होता जा रहा है।

III

फासीवाद

उदार बुर्जुआ जनतंत्र की यह असफलता, उसका यह संकट कोई जरूरी नहीं है कि एक समाजवादी क्रांति की ओर ले जाये जो उसके सारे अंतर्विरोधों का एकमात्र समाधान है। उदार बुर्जुआ जनतंत्र बुर्जुआ वर्ग की एकमात्र राजनीतिक व्यवस्था नहीं है। पूंजी के वर्चस्व का केवल यही एक राजनीतिक रूप नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है, पूंजी बुर्जुआ जनतंत्रों के अलावा एक व्यक्ति की तानाशाही, सैनिक तानाशाही, संवैधानिक राजतंत्र या फासीवाद तक में अपना कारोबार कर सकती है। पूंजीवादी समाज ये सारे रूप ग्रहण कर सकता है। बुर्जुआ जनतंत्र के खात्मे का मतलब पूंजीवाद का खात्मा नहीं होता। बुर्जुआ जनतंत्र पूंजी के शासन का केवल एक रूप है। आवश्यकतानुसार वह शासन के अन्य रूपों को अपना सकती है। बीसवीं सदी के इतिहास को देखें तो उसने ये सारे रूप अपनाये हैं।

पूंजी के शासन के इन रूपों में या बुर्जुआ वर्ग के अधिपत्य के इन रूपों में फासीवाद सबसे क्रूर रहा है। जैसा कि कहा गया है, फासीवाद बुर्जुआ वर्ग की नंगी तानाशाही है। बुर्जुआ जनतंत्र के तहत बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही छिपी होती है। वह इस हद तक छिपी होती है कि बुर्जुआ वर्ग अपने शासन के इस रूप को, वास्तव में अपनी इस तानाशाही को, जनता का शासन घोषित करने में कामयाब हो जाता है-'जनता द्वारा, जनता का, जनता के लिए'। जब बुर्जुआ वर्ग इस जनतंत्र को किनारे लगाकर फासीवादी निजाम कायम करता है तब उसकी छिपी हुई तानाशाही प्रत्यक्ष हो जाती है।

बुर्जुआ वर्ग जनतंत्र को त्याग कर फासीवादी निजाम कायम करने तक उतरता ही तब है जब बुर्जुआ जनतंत्र के जरिये उसका शासन चलना मुश्किल हो जाता है। जब इस जनतंत्र के तहत पूंजीवादी समाज में आंतरिक विग्रह बहुत बढ़ जाते हैं और पूंजी का शासन असुरक्षित होने लगता है तब बुर्जुआ वर्ग फासीवाद की शरण लेता है। इसकी शरण लेकर वह दिखाता है कि उसके शासन का जनतांत्रिक रूप उसके लिए केवल सुविधा की बात है। असुविधाजनक स्थिति में वह उसे तुरंत त्याग देगा।

बुर्जुआ जनतंत्र को त्याग कर फासीवाद की शरण लेना बुर्जुआ वर्ग के लिए समस्या का तात्कालिक समाधान तो होता है पर वह अपनी गति में और बड़ी समस्या पैदा करता है। फासीवादी निजाम मजदूर वर्ग एवं अन्य शोषित-उत्पीड़ित जनों का जो दमन करता है वह कालांतर में और बड़े पैमाने के प्रतिरोध और विद्रोह को जन्म देता है। बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व की अंतिम घंटी बजने लगती है।

वैसे यह हो सकता है कि फासीवादी निजाम के तहत सारे विरोधियों को कुचलने के बाद बुर्जुआ वर्ग स्वयं ही सुरक्षित महसूस करते हुए बुर्जुआ जनतंत्र की ओर लौटे जैसा कि अक्सर सैनिक तानाशाहियों के बाद होता है। पर ऐसा होने पर भी यह केवल इसी बात को तस्दीक करना होगा कि बुर्जुआ जनतंत्र बुर्जुआ वर्ग के लिए एक ऐसी शासन की व्यवस्था है जो तभी संभव है जब इसके पूंजीवादी समाज के सारे अंतर्विरोध हलके रहें। बुर्जुआ वर्ग के दुर्भाग्यवश पूंजीवादी समाज में ऐसा कभी-कभी ही होता है। इसका समूचा इतिहास यह दिखाता है कि यह संकट-दर -संकट यात्रा करता है (यहां केवल आर्थिक मंदी के संकट की चर्चा नहीं की जा रही है)।

बुर्जुआ वर्ग बहुत चालाकी के साथ अपनी नंगी तानाशाही की इस व्यवस्था को यानी फासीवाद को एक पराई व्यवस्था घोषित कर देता है मानो उसका इससे कुछ लेना-देना न हो। यही नहीं, वह इसे अपनी व्यवस्था (उदार बुर्जुआ जनतंत्र) के दो दुश्मनों में से एक घोषित कर देता है। दूसरा दुश्मन कम्युनिज्म यानी साम्यवाद है। इस तरह वह फासीवाद और साम्यवाद को एक बराबर कर देता है।

सारे ही बुर्जुआ जनतंत्रों में विद्यालयों-विश्वविद्यालयों से लेकर बुर्जुआ प्रचार माध्यमों तक हर जगह यह बात तोता रटंत ढंग से दोहराई जाती है। यह बुर्जुआ वर्ग का ऐसा विचारधारात्मक हमला है जिसमें वह एक तीर से दो निशाने साध लेता है। वह फासीवाद के पापों से खुद को बचा लेता है जबकि वह उन सारे पापों को प्रकारान्तर से कम्युनिज्म के मत्थे मढ़ देता है।

बुर्जुआ वर्ग ने पहले भी यह किया है और आगे भी वह यह करता रहेगा। वह तात्कालिक तौर पर इसमें सफल भी हो सकता है। पर इसका यह प्रचार उसे अपनी पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्विरोधों से मुक्ति नहीं दिला सकता।

ठीक इसी समय जब सारे बुर्जुआ जनतंत्र भांति-भांति के संकट से जूझ रहे हैं तब उनमें फासीवादी प्रवृत्तियां तेजी से पनप रही हैं और मजबूत हो रही हैं। बुर्जुआ वर्ग इन्हें प्रश्रय दे रहा है और इस बात की तैयारी कर रहा है कि समय आने पर बुर्जुआ जनतंत्र को त्याग कर फासीवाद को गले लगा ले। भारत में वह इसके बहुत नजदीक है।

IV

उदार बुर्जुआ जनतंत्र के सैद्धान्तिक आधार

जब सत्रहवीं-अठारहवी सदी में बुर्जुआ जनतंत्र के सिद्धान्त पैदा हुए तभी उन्हें कुछ विकट सवालों से जूझना पड़ा। इन सवालों ने बुर्जुआ वर्ग का आज तक पीछा नहीं छोड़ा है।

इन सवालों के मूल में था राजनीतिक बराबरी और आर्थिक गैर-बराबरी के बीच का अंतर्विरोध अथवा औपचारिक (कानूनी) समानता और वास्तविक असमानता के बीच का अंतर्विरोध। बुर्जुआ वर्ग ने इस अंतर्विरोध से भांति-भांति के तरीके से पार जाने के प्रयास किया पर न तो वह पार जा सकता था और न जा पाया। महान फ्रांसीसी क्रांति के दौरान इससे पार पाने की व्यावहारिक कोशिशों ने 'आतंक के राज्य' को जन्म दिया।

बुर्जुआ जनतंत्र के शुरुआती सिद्धान्तकारों के पास प्राचीन यूनान और रोम के जनतंत्र के मॉडल थे। इन मॉडलों की यह आम विशेषता थी कि वे थोड़े से सम्पत्तिवान स्वतंत्र मालिकों के जनतंत्र थे। गुलाम और औरतें इसका हिस्सा नहीं थीं और सम्पत्तिविहीन स्वतंत्र नागरिकों को इससे भांति-भांति के तरीके से वंचित रखा जाता था। रोमन जनतंत्र में यह व्यवस्था इतनी मुकम्मल थी कि थोड़े से कुलीन परिवारों के लोग ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी सीनेटर होते थे।

इन व्यवहारिक मॉडलों के साथ बुर्जुआ सिद्धान्तकारों के पास राजनीतिक सिद्धान्तों से संबंधित प्लेटो और अरस्तू की रचनाएं भी मौजूद थीं। जिस हद तक यूनानी और रोमन समाज वर्गीय होने के साथ व्यापारिक समाज भी थे, उस हद तक ये सिद्धान्त और ज्यादा प्रासंगिक बन जाते थे।

पर नया उभरता बुर्जुआ वर्ग और उसकी पूंजीवादी व्यवस्था पुराने गुलाम समाजों से गुणात्मक तौर पर भिन्न थे। यहां प्रमुख उत्पादक गुलाम न होकर मजदूर थे जिनसे पूंजीपति वर्ग का रिश्ता खरीद-बेच का था। पूंजीपति वर्ग उत्पादकों से अधिशेष जोर-जबरदस्ती से नहीं बल्कि मालों की खरीद-बेच के जरिये हासिल करता था। इसीलिए बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने परजीवी सामंतों के मुकाबले पूंजीपति वर्ग को उत्पादक घोषित किया और सारी सम्पदा को श्रम की पैदावार बताया जिसे व्यक्ति का अविछिन्न अधिकार घोषित किया गया। बुर्जुआ राज्य का काम इस निजी सम्पत्ति की रक्षा करना था।

बुर्जुआ वर्ग द्वारा मालों की खरीद-बेच उनके बीच समानता और स्वतंत्रता की धारणा ले आई और वक्त के साथ यह धारणा व्यापक होती चली गई। बुर्जुआ समाज में हर व्यक्ति किसी न किसी माल का मालिक होता है (मजदूर श्रम शक्ति का मालिक) और वह अपने माल को बाजार में ले आता है। बाजार में सारे मालों के मालिक बराबर और स्वतंत्र हैं। सबका नियामक केवल वह श्रम है जो मालों को पैदा करने में लगा है। बुर्जुआ व्यवस्था के लिए सबसे अच्छी स्थिति वही होगी कि बाजार की यह समानता और स्वतंत्रता पूरे समाज में लागू हो जाये। पुराने सामंती समाज की हर तरह की रोक-टोक और विशेषाधिकार समाप्त हो जायें। माल खरीदने और बेचने की एक जैसी स्थितियों सब जगह लागू हो जायें। सारे विशेषाधिकारों को समाप्त कर सबको मालों के मालिक के तौर पर बाजार में उतारा जाय। (यहां ध्यान में रखना होगा कि बाजार में सब मालों के मालिक होते हैं पर कौन कितने मूल्य के माल का मालिक होगा बुर्जुआ बाजार की समानता इसे नजरअंदाज कर देती है। जबकि बाजार में यह निर्णायक होता है। एकाधिकारी स्थिति में तो यह अतीव महत्व ग्रहण कर लेता है।) बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने जब स्वतंत्रता-समानता की बात की और बुर्जुआ क्रांतियों में इसे नारे की तरह घोषित किया तो उसके मूल में असली मंतव्य यही था।

बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने जब बुर्जुआ जनतंत्र की बात की तो किसी न किसी तरह से प्रातिनिधिक जनतंत्र की बात की। शुरू में वे ज्यादातर संवैधानिक राजतंत्र के पक्षधर थे। इसमें सवाल यह था कि प्रातिनिधिक प्रणाली कैसी हो और उस पर आधारित राज्य कैसा हो? संवैधानिक राजतंत्र के पक्षधर बुर्जुआ सिद्धान्तकारों ने इसमें काफी बौद्धिक कसरतें कीं। इन कसरतों में कई बार उनकी यह मजबूरी होती थी कि वे अपने सैद्धान्तिक निष्कर्षों को तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के अनुकूल ढालें। हेगेल का किस्सा तो इसमें मशहूर ही है जब उन्होंने अपने आदर्श राज्य का तत्कालीन प्रशियाई राज्य के साथ ताल-मेल बैठाया। फ्रांसीसी क्रांति और नैपोलियन का समर्थक दार्शनिक तुच्छ प्रशियाई राज्य की वकालत करता नजर आया।

मानव की स्वतंत्रता और समानता की ऊंची उड़ान भरने वाले बुर्जुआ जनतंत्र के सिद्धान्तकार जब जमीन पर उतरे तो उन्होंने अपने जनतंत्र को थोड़े से सम्पत्तिवान लोगों तक सीमित कर दिया। बाकी लोगों का उन्होंने स्वतंत्रता और समानता के उपयुक्त नहीं माना। ये बाकी लोग आबादी की बहुसंख्या थे और उनका स्वतंत्रता व समानता के दायरे से बाहर होना ही उनके दावों की पोल खोलता था। इस तीखे अंतर्विरोध को जायज ठहराने के लिए इन सिद्धान्तकारों ने अनेक तर्क दिये। इन तर्कों का आशय यह था कि सम्पत्तिविहीन लोग अनपढ़, जाहिल और अपने नियोक्ताओं पर निर्भर लोग हैं। बुर्जुआ घरों की औरतों की भी यही स्थिति है। ये सारे लोग अपना

स्वतंत्र विचार नहीं रख सकते। इसीलिए इन्हें मतदान का अधिकार देने पर जनतंत्र भ्रष्ट होगा। कुछ ने यह दावा किया कि जनतंत्र चूंकि निजी सम्पत्ति की रक्षा के लिए है इसलिए उसे जिम्मेदार ढंग से वे ही लोग चला सकते हैं जो कुछ न कुछ निजी सम्पत्ति के मालिक हों। यहां यह याद रखना होगा कि इंग्लैण्ड में शुरू में चुनने और चुने जाने के लिए जमीन का मालिक होना जरूरी था। फ्रांसीसी क्रांति के समय भी मताधिकार के लिए जमीन का मालिक होना जरूरी माना गया। 1795 के संविधान निर्माण के समय बासी डी 'आंग्ला ने विस्तार से बताया कि मताधिकार के लिए जमीनों का मालिक होना क्यों जरूरी शर्त होनी चाहिए।

इस तरह अपने जनतंत्र को थोड़े से सम्पत्तिवानों तक सीमित कर देने के बाद बुर्जुआ सिद्धान्तकारों के लिए जरूरी हो गया कि वे अपनी बेबाकी को थोड़ा नरम बनायें और जनतंत्र से बहिष्कृत लोगों को ढाढस बधाएं। इसके लिए उन्होंने यह सिद्धान्त गढ़ा कि मताधिकार से वंचित होने के बावजूद संपत्तिविहीन लोग और स्त्रियां आभासी तौर पर उसमें शामिल हैं। किसी क्षेत्र के प्रतिनिधि उनका भी आभासी तौर पर प्रतिनिधित्व करते हैं। चूंकि बुर्जुआ जनतंत्र उनका भी ध्यान रखता है और कई मामलों में उन्हें भी बराबर का अधिकार है इसलिए वे भी जनतंत्र में शामिल हैं। मजे कि बात यह है कि जब 1760 के दशक में अमरीकी उपनिवेशों ने ब्रिटिश शासन का 'प्रतिनिधित्व नहीं तो कर नही' के नारे के तहत विरोध किया तो ब्रिटिश बुर्जुआ शासकों ने उपनिवेशों के खिलाफ इसी तर्क का इस्तेमाल किया। उन्होंने खुलेआम कहा कि व्यापक ब्रिटिश जनता भी सीधे प्रतिनिधित्व से वंचित है तब भी वह कर देती है क्योंकि बुर्जुआ शासन उसका शासन भी है।

यहां यह ध्यान रखना होगा कि बुर्जुआ जनतंत्र को अत्यंत थोड़े से संम्पत्तिवान लोगों तक सीमित रखने वाले ये बुर्जुआ सिद्धान्तकार उदार बुर्जुआ जनतंत्र के पैरोकार थे। वे शासन को केवल थोड़े से प्रशासनिक मसलों तक सीमित रखने के पक्षधर थे। वे नागरिक समाज के बाकी मसलों को उसके अपने हाल पर छोड़ देने के पक्षधर थे। वे खास तौर पर यह बात कहते थे कि राज्य को अर्थव्यवस्था में कोई दखल नहीं देना चाहिए। उसे केवल इसके समुचित विकास के लिए कानूनी स्थितियां प्रदान करने तक सीमित रहना चाहिए। उनके अनुसार अर्थव्यवस्था में राज्य की ओर से कोई भी हस्तक्षेप इसके विकास को विकृत करेगा। एडम स्मिथ के शब्दों में अर्थव्यवस्था को बाजार की शक्तियों के अदृश्य हाथ से संचालित होना चाहिए। इसीलिए बीसवी सदी के सारे राजकीय हस्तक्षेप के बाद जब 1980 के दशक से फिर अर्थव्यवस्था से सरकार के हाथ खींचने की मांग की जाने लगी तो इसे नवउदारवाद कहा गया।

आज उदार बुर्जुआ जनतंत्र के पैरोकार उपरोक्त बातों को याद नहीं करना चाहते। यह उन्हें उनके ऐसे अतीत की याद दिलाता है जो उन्हें जरा भी खुशनुमा रोशनी में पेश नहीं करता। यह साथ ही उदार बुर्जुआ जनतंत्र के विकास क्रम को भी प्रदर्शित कर देता है।

इसीलिए इसके पैरोकार इस सबको भूल-भालकर उदार बुर्जुआ जनतंत्र के अमूर्त सिद्धान्त पेश करते हैं। उनका कहना है कि इस जनतंत्र को दो मूलभूत पायदानों पर स्थपित होना चाहिए : राजनीतिक तौर पर हर व्यक्ति की बराबरी (जो एक व्यक्ति, एक वोट के आधार पर समय-समय पर होने वाले चुनावों की व्यवस्था होगी तथा अर्थिक तौर पर व्यक्तिगत उद्यमिता (जो माल, बाजार और प्रतियोगिता के जरिये काम करेगी)। इससे कोई भी विचलन समाज के स्वस्थ विकास में बाधा बनेगा। यदि व्यक्तियों को राजनीतिक बराबरी से आगे बढ़कर आर्थिक बराबरी देने की कोशिश की जाती है या राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था को किसी भी तरह नियंत्रित करने की कोशिश की जाती है तो यह बड़े पैमाने पर अकुशलता को जन्म देगा और इसका कुल परिणाम समाज के लिए बुरा होगा। यदि उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों का परिणाम बड़े पैमाने की भुखमरी, गरीबी, बेरोजगारी और असमानता में होता है तो इससे बचा नहीं जा सकता। यही सबसे अच्छी व्यवस्था है।

उदार बुर्जुआ जनतंत्र के पैरोकार औपचारिक राजनीतिक बराबरी से आगे बढ़कर किसी भी तरह की वास्तविक बराबरी की ओर जाने के सख्त खिलाफ हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि वास्तविक बराबरी की ओर कोई भी कदम राजकीय हस्तक्षेप के बिना संभव नहीं है। और इसका सीधा सा मतलब है पूंजी के मुनाफे में कटौती। और वे किसी भी कीमत पर यह नहीं चाहते। इसीलिए वे तर्क देते हैं कि औपचारिक बराबरी से आगे जाने का कोई भी प्रयास राज्य के नियंत्रण को जन्म देगा जो भांति-भांति के उत्पीड़न को जन्म देगा। इसीलिए यदि इससे बचना है तो राज्य को केवल कानून-व्यवस्था तक स्वयं को सीमित रखना चाहिए।

महत्वपूर्ण बात यह है कि बुर्जुआ वर्ग वास्तव में स्वयं इन बातों पर विश्वास नहीं करता। उदारीकरण के पिछले चार दशक वास्तव में राज्य के द्वारा अर्थव्यवस्था में बहुत बड़े पैमाने के हस्तक्षेप के दशक रहे हैं। बस वे हमेशा पूंजी के पक्ष में रहे हैं। पिछले चार दशकों में राज्य के सीधे हस्तक्षेप से मजदूर यूनियनों को शक्तिहीन कर दिया गया। इन सालों में मजदूर वर्ग के हर बड़े संघर्ष को राज्य द्वारा कुचला गया। सबसे बढ़कर यह कि आर्थिक संकटों के समय बड़े पैमाने पर राज्य द्वारा पैसा झोंककर पूंजी का उबारा गया और इसको मजदूर वर्ग एवं मेहनतकश जनता से वसूला गया। यदि उदार बुर्जुआ जनतंत्र के खेवैया वास्तव में इसके सिद्धान्तों पर चलते तो बुर्जुआ अर्थव्यवस्था कब की डूब चुकी होती और समूची पूंजीवादी दुनिया क्रांतियों से गुजर रही होती।

उदार बुर्जुआ जनतंत्र के पैरोकार और भी अमूर्तता में जाकर यह दावा करते हैं कि एक सामाजिक एजेन्ट के तौर पर व्यक्ति अपने हितों का सबसे बड़ा संरक्षक है। वह सबसे बेहतर तभी होता है जब उसे उसकी योग्यता और पहलकदमी पर छोड़ दिया जाये। आपस में प्रतियोगितारत ऐसे सारे व्यक्तियों से बना समाज ही अंत में पूरे समाज के लिए सबसे बेहतर परिणाम हासिल करता है। यह आर्थिक-राजनीतिक- सामाजिक सभी क्षेत्रों में होता है।

उदार बुर्जुआ जनतंत्र का यह वह सिद्धान्त है जो प्रत्येक व्यक्ति को बाकी सारे व्यक्तियों और समाज के खिलाफ खड़ा करता है। अपनी अति में यह सिद्धान्त व्यक्ति को वहां पहुंचा देता है जहां वह समाज विरोधी हो जाता है। वह हमेशा अपना हित देखता है भले ही इसकी पूर्ति के लिए समाज को कितनी भी कीमत चुकानी पड़े। हिटलर और मोदी इसी सिद्धान्त की परिणतियां हैं।

इस सिद्धान्त के इन परिणामों से भयभीत बुर्जुआ वर्ग तब यह नैतिक उपदेश देने लगता है कि अपने हितों को आगे बढ़ाते हुए व्यक्तियों को यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि सारे लोग यही करने लगें तो क्या होगा? पर उसका यह उपदेश उसके घोषित सिद्धान्त के खिलाफ चला जाता है क्योंकि वहां तो अपने हितों की चिंता ही सर्वोच्च नियामक है।

असल में बुर्जुआ वर्ग का यह सिद्धान्त बस उस चीज का सैद्धांतीकरण है जो बुर्जुआ समाज का यथार्थ है। इसमें वास्तव में व्यक्ति समाज के सामने, उसके विरोध में खड़ा है। व्यक्ति और समाज का अंतर्विरोध यहां चरम पर है और उसका समाधान नहीं है। नैतिक उपदेश इसमें कोई असर नहीं डालते।

ऐसे समाज का क्या दूरगामी भविष्य हो सकता है जिसमें हर व्यक्ति बाकी अन्यों के मुकाबले और पूरे समाज के सामने खड़ा होने को मजबूर हो? इसमें व्यक्ति और समाज के जीवन की क्या गुणवत्ता हो सकती है? स्वयं बुर्जुआ वर्ग के अपने मापदंडों पर इसकी क्या परिणतियां हो सकती हैं? इसमें कोई व्यक्ति अपनी प्रतिभा का कितना विकास कर सकता है? उसका व्यक्तित्व कितना विकसित हो सकता है? पूरे समाज की कुशलता कितनी तेजी से विकसित हो सकती है? इसमें पीछे छूट गये लोगों की बात छोड़ भी दें (जो आबादी की विशाल बहुसंख्या होती है) तो 'सफल' लोगों को भी इसकी जो कीमत चुकानी पड़ती है क्या वह प्राप्ति से संतुलित हो पाती है? जिस प्रतियोगिता का इतना गुणगान किया जाता है क्या उसकी कीमत की भरपाई हो पाती है?

उदार बुर्जुआ जनतंत्र के पैरोकार कुछ चीजों को मानकर चलते हैं और जो उनके आकलन में कभी नहीं आतीं। विशाल बहुसंख्या का भुखमरी-गरीबी में जीना एक ऐसी चीज है जो उनके आकलन से हमेशा बाहर रहती है। जहां कुशलता यानी पूंजी की ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने की क्षमता ही एकमात्र मापदंड हो वहां लोगों के जीवन की आम समस्याएं बुर्जुआ की निगाह में ऐसी चीजें हैं जिन पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। ये कुशलता बढ़ने के अनिवार्य परिणाम हैं। वैसे भी क्या गरीबी, भुखमरी हमेशा से नहीं रही हैं। बात केवल यहीं तक सीमित नहीं है। बुर्जुआ वर्ग अपने समाज के अतीव श्रम-विभाजन को मानकर चलता है। वैसे कुशलता बढ़ाने के लिए यह भी जरूरी तत्व है। केवल लगातार बढ़ता श्रम-विभाजन ही पूंजी के मुनाफे को बढ़ा सकता है। इससे क्या कि यह श्रम-विभाजन ज्यादातर इंसानों को मशीन का पुर्जा बनाकर छोड़ देता है? यहां तक कि बुर्जुआ वर्ग भी इसका शिकार हो जाता है? मनुष्य का मशीनों के उपांग में यह रूपान्तरण, उसका पूंजी की गति से इस तरह संचालित होना बुर्जुआ के लिए कोई परेशानी की बात नहीं है क्योंकि यह पूंजी के मुनाफे के लिए जरूरी है। यह बुर्जुआ जीवन की गुणवत्ता के आकलन में नहीं आता।

अंततः बुर्जुआ के लिए यह भी आकलन में नहीं आता कि सभ्यता के इतने विकास के बाद इंसान ने वास्तव में कितनी स्वतंत्रता हासिल की है? इंसान का अपने जीवन पर, अपने जीवन को निर्धारित करने वाली स्थितियों पर कितना नियंत्रण है? कहीं वह केवल काम करने व उपभोग करने वाला पशु तो नहीं? व्यक्ति की स्वतंत्रता की इतनी दुहाई देने वाला बुर्जुआ वर्ग इस बुनियादी सवाल को नहीं उठाता कि आज कोई इंसान कितना स्वतंत्र है, चाहे वह मजदूर हो या पूंजीपति?

बुर्जुआ वर्ग इस सवाल को इस रूप में उठाने से डरता है क्योंकि तब पता चलेगा कि आज इंसान वास्तव में स्वतंत्र नहीं है। क्या तो सर्वहारा, क्या तो पूंजीपति सभी पूंजी के गुलाम हैं। आज मृत श्रम जीवित श्रम पर हावी है। आज की स्वतंत्रता पूंजी के हिसाब से संचालित होने की स्वतंत्रता है। वह असल में बुर्जुआ समाज की अंधशक्तियों की गुलामी है जिससे बुर्जुआ समाज का हर व्यक्ति बंधा हुआ है। बुर्जुआ जनतंत्र के चुनावों में समय-समय पर वोट डालने की स्वतंत्रता इस वास्तविक गुलामी के सामने कुछ भी नहीं है। महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं बुर्जुआ भी इस गुलामी का उतना ही शिकार है।

बुर्जुआ समाज की इस हकीकत को किसी भी तरह की शाब्दिक चतुराई से नहीं झुठलाया जा सकता। इसका सामना होने पर बुर्जुआ वर्ग के पैरोकारों के सामने बस यही चारा बचता है कि वे यह कहें कि उनकी व्यवस्था 'परिपूर्ण' नहीं है, कि यह सभी समाज व्यवस्थाओं में सबसे कम बुरी व्यवस्था है। क्या करें? मानव चरित्र ही ऐसा है! संक्षेप में यह कि उदार बुर्जुआ जनतंत्र का कोई विकल्प नहीं है।

पर क्या वास्तव में ऐसा है? क्या वास्तव में कोई विकल्प नहीं है?

V

कम्युनिज्म या साम्यवाद

उदार बुर्जुआ जनतंत्र को खतरा उसके भीतर के मूल अंतर्विरोध से है। वह है औपचारिक समानता और वास्तविक असमानता के बीच का अंतर्विरोध। उदार बुर्जुआ जनतंत्र में लोग औपचारिक तौर पर, कानून की निगाह में बराबर होते हैं लेकिन वास्तविक तौर पर, खासकर आर्थिक तौर पर गैर बराबर होते हैं। वास्तव में असमान लोगों को कानूनन समान मानने की पद्धति भारी अंतर्विरोधों को जन्म देती है।

इंसानों के बीच असमानता तीन आधार पर हो सकती है : पहला; जाति, धर्म, लिंग, क्षेत्र, नस्ल इत्यादि के आधार पर असमानता; दूसरा, आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक हैसियत के आधार पर असमानता; तीसरा, व्यक्तिगत क्षमता (शारीरिक और

मानसिक) के आधार पर असमानता। उदार बुर्जुआ जनतंत्र अपने नागरिकों के मामले में पहली असमानता को खत्म कर देता है और जन्म से लोगों को, मानव होने के नाते, समान घोषित कर देता है। लेकिन वह बाकी दोनों असमानताओं को मान्यता देता है हालांकि राज्य के संचालन में वह लोगों को इनसे इतर बराबर मानता है और बराबर अवसर की घोषणा करता है। उदार बुर्जुआ जनतंत्र में समानता का केवल इतना ही मतलब है।

पूंजीवाद न केवल आर्थिक असमानता को स्वीकार करता है बल्कि उसे उद्यमिता के लिए, मानव समाज के लिए आवश्यक भी मानता है तथा इसे क्षमताओं की व्यक्तिगत असमानता के आधार पर जायज ठहराता है। यहां तक कि वह इसे प्राकृतिक मानता है : व्यक्तिगत क्षमताओं की असमानता प्रकृति ने पैदा की है इसीलिए उससे उद्‌भूत आर्थिक असमानता भी प्रकृति की देन है। इसे खत्म नहीं किया जा सकता।

औपचारिक समानता और वास्तविक असमानता के इस अंतर्विरोध से दोनों दिशाओं में जाया जा सकता है। व्यक्तिगत क्षमताओं की असमानता को स्वीकार करते हुए भी आर्थिक समानता (और तद्‌नुरूप राजनीतिक व सामाजिक समानता) कायम करने की ओर बढ़ा जा सकता है। यह कम्युनिज्म की ओर का रास्ता है। दूसरी तरफ, व्यक्तिगत क्षमताओं की असमानता को स्वीकार करते हुए उसके आधार पर न केवल आर्थिक बल्कि कानूनी गैर-बराबरी की ओर भी बढ़ा जा सकता है। यह फासीवाद का रास्ता है : बुर्जुआ वर्ग की छिपी तानाशाही से नंगी तानाशाही की ओर जाने का रास्ता है।

कम्युनिज्म वास्तविक असमानता और औपचारिक समानता के इस अंतर्विरोध को कैसे हल करेगा? व्यक्तिगत क्षमताओं की असमानता को मान्यता देते हुए भी लोगों के बीच आर्थिक इत्यादि बराबरी कैसे कायम की जा सकती है?

यह सही है कि लोग शारिरिक-मानसिक तौर पर असमान होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो वे अलग-अलग व्यक्ति नहीं होते। लेकिन आज लोगों के बीच जितनी असमानता दीखती है और वह लोगों की आर्थिक हैसियत में जो भूमिका अदा करती है वह आज के पूंजीवादी समाज से बहुत कुछ निर्धारित होता है। उत्पादन के साधनों के मालिकाने के मामले में व्यक्ति की स्थिति, समाज में तीव्र श्रम-विभाजन, अधिकांश मजदूरों का किसी निश्चित श्रम-प्रक्रिया तक सीमित रहना, शारिरिक व मानसिक श्रम के बीच विशाल खाई, अपनी शारिरिक-मानसिक क्षमता को विकसित करने के लिए अवसरों की तीखी असमानता, मानसिक श्रम को शारीरिक श्रम पर अतीव वरीयता इत्यादि वे कारक हैं जिनसे प्राकृतिक कारकों से अलग लोगों की शारीरिक और मानसिक क्षमता में पूंजीवाद में इतना फर्क पैदा हो जाता है, इतनी असमानता पैदा हो जाती है।

इससे भी आगे, क्षमताओं में फर्क का परिणाम सामाजिक संबंधों से तय होता है। निश्चित सामाजिक सम्बन्ध (आर्थिक, राजनीतिक इत्यादि) ही यह तय करते हैं कि विभिन्न क्षमतायें क्या भूमिकाएं निभायेंगी। मुनाफा कमाने के लिए बहुत क्षमताओं की नहीं, बल्कि पूंजीवाद में पूंजी की जरूरत होती है। आज ज्यादातर पूंजीपति अपने प्रबन्धकों-इंजीनियरों से हर तरह से कम क्षमतावान हैं लेकिन पूंजी का मालिक होने के चलते वे दसियों-सैकड़ों-हजारों गुना ज्यादा कमाते हैं। इससे भी ज्यादा यह बात कि सामंतवाद के उरूज पर व्यवसाय की यह क्षमता ही निरर्थक होती। तब तलवार चलाने की कुशलता ही फलप्रद होती। आज पूंजीवादी राजनीतिज्ञ बनने के लिए लुभावने भाषण देना, धोखा देना, तीन तिकड़म करना जरूरी है। इसमें माहिर व्यक्ति ही पूंजीवादी राजनीति के शिखर पर पहुंच सकता है। लेकिन वंशानुगत राजशाही के जमाने में एक किसान में ये गुण उसे राजा नहीं बना सकते थे। यहां तक कि दरबारी भी नहीं बना सकते थे। मनुष्य वैसे भी सामाजिक संबंधों का कुल योग होता है। उसकी पैदावार होता है। व उसी में भूमिका निभा सकता है।

इंसानी जीवन की इस सच्चाई के कारण कम्युनिस्ट समाज में यह संभव हो सकेगा कि लोगों के बीच क्षमताओं का फर्क होने के बावजूद उनके बीच आर्थिक -सामाजिक समानता, वास्तविक समानता कायम हो सके। कम्युनिज्म (जिसमें उत्पादन के साधनों का मालिक पूरा समाज होगा, अलग-अलग व्यक्ति नहीं) उत्पादन के ऊंचे स्तर पर, अतिउत्पादन के स्तर पर ही संभव हो सकेगा, जब सभी लोगों की सभी जरूरतों (वास्तविक, बनावटी जरूरतें नहीं) से ज्यादा उत्पादन होने लगे, जब लोगों को उनकी जरूरत के अनुसार मिल जाये, जब बंटवारे का सवाल ही खत्म हो जाये। अति उत्पादन होने और बंटवारे का सवाल खत्म हो जाने के कारण लोगों के उपभोग को उनकी क्षमताओं से, क्षमताओं के अनुरूप उनके समाज में योगदान से जोड़ने की जरूरत खत्म हो जायेगी। हर कोई अपनी क्षमतानुसार योगदान करेगा और आवश्यकतानुसार उपभोग करेगा। दूसरे, यह कि उत्पादन के अति ऊंचे स्तर पर पहुंच जाने के कारण हर व्यक्ति द्वारा बहुत कम समय तक श्रम करने की जरूरत पड़ेगी और इसीलिए श्रम क्षमताओं में फर्क उतना महत्वपूर्ण नहीं रह जायेगा। तीसरे, और सबसे महत्वपूर्ण यह कि पूंजीवाद के श्रम-विभाजन का समापन कर समाज में नया श्रम-विभाजन लागू करने, उत्पादन प्रक्रिया के अत्यन्त आसान और स्वचालित मशीनीकृत हो जाने तथा शारीरिक व मानसिक श्रम के भेद का समापन कर संपूर्ण मनुष्य बनाने के लिए समाज द्वारा हर बच्चे को सभी संभव साधन मुहैय्या कराने के जरिये और फिर वयस्क जीवन में अपनी क्षमताओं को पुष्पित-पल्लवित करने का अवसर प्रदान करने के जरिये सारे ही मानवों की शारीरिक-मानसिक क्षमताओं का जो विकास होगा उसमें समाज की जरूरतों को देखते हुए फर्क बहुत कम रह जायेगा। इस तरह औसतन समाज का हर इंसान हर काम कर सकेगा। तब जो क्षमताओं का फर्क बचेगा उसे लोगों की आर्थिक-सामाजिक हैसियत से जोड़ने की जरूरत नहीं होगी। व्यक्तिगत क्षमताओं में फर्क होने के बावजूद लोग आर्थिक-सामाजिक हैसियत में वास्तव में समान हो जायेंगे। पूंजीवाद का वास्तविक असमानता और औपचारिक समानता का अंतर्विरोध कम्युनिज्म में समाप्त हो जायेगा।

लेकिन इसके लिए आवश्यक होगा कि पूंजीवाद में पहले ही सामूहिक हो चुके उत्पादन को उसका असली सामूहिक स्वरूप दे दिया जाये-पूंजीपतियों के निजी हाथों से छीनकर तथा उसे पूरे समाज की सम्पत्ति बनाकर। इस तरह उत्पादन का हस्तगतकरण भी

सामूहिक कर दिया जाये। इस तरह सर्वहारा द्वारा क्रांति कर सत्ता पर कब्जा करने के जरिये सामूहिक उत्पादन और व्यक्तिगत हस्तगतकरण का पूंजीवाद का प्रधान अंतर्विरोध, उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बीच का अंतर्विरोध हल हो जायेगा। समाज पूंजीवाद से समाजवाद में प्रवेश कर जायेगा। उसके बाद संक्रमण की एक लंबी अवधि से गुजरकर, अतिउत्पादन की मंजिल पर पहुंचकर समाज कम्युनिज्म में प्रवेश कर जायेगा।

उत्पादन और हस्तगतकरण दोनों का सामूहिकीकरण सम्पत्ति और श्रम के बीच के अंतर्विरोध को भी हल कर देगा। बुर्जुआ समाज में बुर्जुआ का सत्व उसकी निजी सम्पत्ति-पूंजी-है। इसीलिए बुर्जुआ राज्य निजी सम्पत्ति की सुरक्षा पर इतना जोर देता है। उदार बुर्जुआ जनतंत्र के राज्य का तो मूल ही है निजी सम्पत्ति की सुरक्षा। दूसरी और सर्वहारा राज्य का सत्व है श्रम। बुर्जुआ श्रम नहीं करता और सर्वहारा के पास सम्पत्ति नहीं होती। श्रम मानव जीवन का आधार है। एक रूप में यही मानवीय सारतत्व है। श्रम ही सम्पत्ति पैदा करता है। वास्तव में संचित श्रम ही सम्पत्ति है, अतीत में किया गया श्रम, मृत श्रम। सम्पत्ति श्रम का उत्पाद है। लेकिन संचित श्रम उत्पादन के साधनों के रूप में (अनछुई प्राकृतिक चीजों के साथ) आगे के श्रम के लिए आधार प्रदान करता है। यही नहीं, यह जीवित श्रम के आकार और उत्पादकता को बढ़ाता है। इस तरह जीवित श्रम मृत श्रम पर, वर्तमान श्रम अतीत के श्रम पर आगे बढ़ता है। अतीत का श्रम, संचित श्रम जीवित श्रम के लिए आवश्यक बन जाता है। यानी उत्पादन के साधनों के रूप में सम्पत्ति श्रम के लिए आवश्यक बन जाती है। लेकिन इस सम्पत्ति के निजी हाथों में सिमटने के साथ ही, निजी सम्पत्ति और वर्ग की उत्पत्ति के साथ ही सम्पत्ति और श्रम में तीखा अंतर्विरोध पैदा हो जाता है। दोनों दो विरोधी वर्गों के हाथों मे केन्द्रित हो जाते हैं। शासक वर्ग सम्पत्ति का, उत्पादन के साधनों का मालिक होता है, पर श्रम नही करता। शासित वर्ग श्रम करता है लेकिन सम्पत्ति, उत्पादन के साधनों का मालिक नहीं होता। वह श्रम करता है पर उसका बेशी श्रम उत्पादन के साधन के मालिकों द्वारा, शोषकों द्वारा हड़प लिया जाता है और उनकी सम्पत्ति बन जाता है। दोनों ही मानवीय सत्व से वंचित कर दिये जाते हैं, हालांकि शासक-शोषक वर्ग ज्यादा। पूंजीवाद में यह प्रक्रिया चरम पर पहुंच जाती है जब सम्पत्ति और श्रम का ध्रुवीकरण पूर्ण हो जाता है। बीच के सम्पत्तिधारी वर्ग गायब हो जाते हैं और सर्वहारा उत्पादन के साधनों से पूर्णतया वंचित हो जाता है। उत्पादन के साधनों से वंचित होना उसके सर्वहारा होने की पूर्व शर्त है। इस तरह पूंजीवाद पूर्ण अमानवीय व्यवस्था है और उसकी अन्य क्षेत्रों में अमानवीयता का आधार यही है। बुर्जुआ का सत्व सम्पत्ति, पूंजी होता है लेकिन इसी कारण वह मानवीय सत्व से वंचित होता है। सर्वहारा श्रम करता है पर श्रम-विभाजन के कारण अत्यंत खंडित श्रम जिसमें जीवित श्रम मृत श्रम के अधीन रहता है और श्रम के उत्पाद पर उसका अधिकार नहीं होता। लेकिन जिस हद तक वह श्रम करता है उस हद तक उसमें मानवीय सत्व बचा रहता है। इससे मुक्ति संपत्ति और श्रम के, संचित श्रम और जीवित श्रम के दोबारा मेल से ही संभव है। यह उत्पादन के साधनों के सामूहिकीकरण और तद्नुरूप हस्तगतकरण के भी सामूहिकीकरण के साथ ही हो सकता है और इस कारण यह कम्युनिज्म में ही हो सकता है। इसी के जरिये उत्पादन के साधन और उत्पादकों का मेल हो सकता है, उत्पादकों का उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण स्थापित हो सकता है तथा जीवित श्रम मृत श्रम पर हावी हो सकता है। तब उत्पादक उत्पादन के साधनों के अधीन नहीं रह जाते, जीवित श्रम मृत श्रम के अधीन नहीं रह जाता। अतीत वर्तमान पर शासन करना बंद कर देता है। कम्युनिज्म यह सब करके सम्पत्ति और श्रम के बीच के अंतर्विरोध को हल कर देता है। इसमें सभी श्रम करते हैं और सभी श्रम के उत्पाद का उपभोग करते हैं। इसमें श्रम सबके लिए आवश्यक ही नहीं होता बल्कि सबकी आवश्यकता बन जाता है। मानवीय सारतत्व पुनर्स्थापित हो जाता है लेकिन अब अति ऊंचे विकसित स्तर पर। उस स्तर पर जब मानव इतिहास में वस्तुतः स्वतंत्रता का युग शुरू होता है।

कम्युनिज्म का यह जीवन वास्तव में अत्यंत संतोषप्रद होगा और बुर्जुआ समाज की ऊब से मुक्त होगा। यह आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में पदार्पण होगा। यह मानव के प्राक् इतिहास का अंत होगा। मानव इतिहास वास्तव में यहीं से शुरू होगा। यह मानव के मानव के रूप में, स्वयं अपने स्वामी के रूप में इतिहास की शुरूआत होगी। इस तरह कम्युनिस्ट समाज एक रूप में मानव इतिहास का अंत नहीं बल्कि उसकी शुरूआत होगा।

बुर्जुआ समाज के मूल अंतर्विरोध का समाधान होते ही उससे उद्भूत अन्य अंतर्विरोध भी कम्युनिज्म में हल हो जायेंगे। इंसान का अपने जीवन पर नियंत्रण कायम हो जायेगा और वह समाज की अंध शक्तियों का गुलाम नहीं रह जायेगा। यह व्यक्तिगत तौर पर नहीं बल्कि सामूहिक तौर पर होगा। इंसान व्यक्तिगत तौर पर अपने जीवन का मालिक नहीं होगा बल्कि सामाजिक समूह के हिस्से के तौर पर इसका मालिक होगा। इसी से व्यक्ति और समाज के बीच का तीव्र बुर्जुआ अंतर्विरोध भी कम्युनिज्म में हल हो जायेगा। व्यक्ति और समूह का अंतर्विरोध तब भी रहेगा पर अब यह दुश्मनाना नहीं होगा। इसमें व्यक्ति समूह के सामने नहीं खड़ा होगा बल्कि उसके साथ खड़ा होगा। हर एक का विकास कम्युनिज्म में समूह के विकास की शर्त होगा। कम्युनिज्म में प्रकृति और इंसान के बीच का अंतर्विरोध भी आज की तरह दुश्मनाना नहीं रह जायेगा। उसमें इंसान प्रकृति के हिस्से के तौर पर ही अपने सामाजिक जीवन का निर्माण करेगा-प्रकृति के नियमों का इस्तेमाल करते हुए। पर्यावरण की आज की प्राणघातक समस्या तब तिरोहित हो जायेगी। शहर और देहात के बीच आज जो भीषण अंतर्विरोध है, जो साथ ही पर्यावरण की समस्या के मूलों में से एक है, कम्युनिज्म में इसीलिए समाप्त हो जायेगा कि शहरों की आबादी छितरा दिये जाने के कारण शहर और देहात का फर्क समाप्त हो जायेगा।

कम्युनिज्म में उस जनवाद का क्या होगा जिसका बुर्जुआ इतना राग अलापता है? चूंकि बुर्जुआ यह मानता है कि इंसान की स्वतंत्रता का आधार निजी संपत्ति है इसलिए वह मानता है कि निजी सम्पत्ति के खात्मे के साथ ही इंसान की स्वतंत्रता का खात्मा हो जायेगा। उसके जनवाद का खात्मा हो जायेगा। एक सर्वसत्तावादी राज कायम हो जायेगा। सच्चाई यह है कि जनवाद एक शासन करने की प्रणाली है। यह राज्य की एक व्यवस्था है। इसमें समाज का एक हिस्सा दूसरे को दबाकर रखता है। बुर्जुआ जनतंत्र में समाज का एक

थोड़ा सा हिस्सा-शोषक हिस्सा-विशाल बहुसंख्या को दबाकर रखता है। बुर्जुआ जनतंत्र बुर्जुआ वर्ग की मजदूर वर्ग के ऊपर तानाशाही होता है। जब सर्वहारा सत्ता में आता है तो यह चीज उलट जाती है। सर्वहारा जनवाद में विशाल बहुसंख्या की थोड़े से शोषकों पर तानाशाही होती है। सर्वहारा तानाशाही का यही मतलब है-सर्वहारा की बुर्जुआ वर्ग पर तानाशाही। जब समाज कम्युनिज्म में पहुंचेगा तब राज्य का विलोप हो जायेगा। आबादी के एक हिस्से द्वारा दूसरे को दबा कर रखने की जरूरत का विलोप हो जायेगा। चूंकि जनवाद अपने सारतत्व में इसके सिवा और कुछ नहीं है इसलिए कम्युनिज्म में जनवाद का विलोप हो जायेगा। समाज के अत्यन्त ऊंचे सांस्कृतिक स्तर पर लोग एक-दूसरे के साथ एकदम भिन्न किस्म का व्यवहार करने के आदी हो जायेंगे। पूरा समाज स्वतः प्रबंधित समाज बन जायेगा। पूरे समाज के प्रबन्धन के लिए संस्थाएं तब भी होंगी पर उनका उत्पीड़क चरित्र समाप्त हो जायेगा। इन संस्थाओं में समाज के सारे ही लोग भागीदारी करेंगे और उनकी भूमिका बदलती रहेगी।

जब इतिहास में राज्य पैदा हुआ तो उसका एक कारण समाज का प्रबन्ध करने के लिए श्रम-विभाजन भी था। इस प्रबन्धन के लिए विशेष कौशल की आवश्यकता थी और इसको करने वाले लोग समय के साथ समाज से अलग और ऊपर शासक वर्ग बन गये। वे साथ ही या तो स्वयं शोषक भी थे या शोषकों से नाभिनालबद्ध। तब समाज के आगे विकास के लिए इस तरह का श्रम-विभाजन जरूरी था। कम्युनिज्म में इस तरह के श्रम-विभाजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। वस्तुतः कम्युनिज्म वर्गीय समाज की, खासकर पूंजीवादी समाज की श्रम-विभाजन की प्रणाली को समाप्त कर एकदम भिन्न श्रम-विभाजन करता है। इस श्रम-विभाजन का मूलतत्व होता है संकीर्ण श्रम-विभाजन में कैद खंडित व्यक्ति के बदले ऐसे संपूर्ण इंसान का विकास जो श्रम-विभाजन की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त होता है और भांति-भांति के श्रम कर सकता है। उत्पादकता का अति ऊंचा स्तर और सांस्कृतिक विकास इसे संभव बना देता है। तब यह संभव हो जाता है कि हर व्यक्ति बदलते उत्पादक श्रम के साथ समाज के प्रबंधन में भी हाथ बंटा सके। समाज के प्रबन्धन के लिए तब विशिष्ट व्यक्तियों से युक्त संस्थाओं की जरूरत नहीं रह जाती।

इंसान की जिस स्वतंत्रता की बुर्जुआ वर्ग इतनी बात करता है वह तब तक संभव नही है जब तक इंसान प्रकृति या समाज की अंधशक्तियों का गुलाम है। पूंजीवादी समाज में उसके उत्पादन की अराजकता पर आधारित जो अराजकता का राज होता है उसमें कोई व्यक्ति स्वतंत्र नहीं हो सकता। जैसा कि पहले कहा गया है पूंजीवादी समाज में बुर्जुआ और सर्वहारा दोनों पूंजी के गुलाम है। दोनों बाजार द्वारा शासित होते हैं। समाज की अंधशक्तियों की पराधीनता की इस अवस्था में समय-समय पर होने वाले निरर्थक चुनाव में वोट डाल देना कोई स्वतंत्रता नहीं। असली स्वतंत्रता तभी शुरू होती है जब इंसान समाज की अंधशक्तियों से संचालित होने के बदले समाज को संचालित करना शुरू कर दे। यह केवल योजनाबद्ध कम्युनिस्ट समाज में ही संभव है। पर यह समाज में कार्यरत नियमों को नकार कर नहीं किया जा सकता है। यह उन नियमों को जानकर उनके अनुसार ही किया जा सकता है। यह इस उसूल के आधार पर ही किया जा सकता है कि आवश्यकता की पहचान ही स्वतंत्रता है। केवल इसी आधार पर इंसान आवश्यकता के युग से स्वतंत्रता के युग में प्रवेश करेगा जो, जैसा कि मार्क्स ने कहा था, भौतिक जरूरतों के उत्पादन में अत्यंत कम समय लगाने के जरिये ही संभव हो सकेगा।

कम्युनिज्म में यह सब होगा। पर कम्युनिज्म तक की इंसान की यात्रा किसी अमूर्त, आदर्श लक्ष्य को रखकर नहीं होगी। यह किसी अमूर्त मानवीय सारतत्व को हासिल करने के लिए नहीं होगी और न ही आवश्यकता के राज्य से स्वतंत्रता के राज्य में जाने के लिए। मार्क्सवाद के पहले के कम्युनिज्म के सिद्धान्तकार इस तरह अमूर्त लक्ष्यों को सामने रख कर चलते थे। मार्क्सवाद ने बताया कि कम्युनिज्म तक की यात्रा किन्हीं अमूर्त आदर्शों के लिए नहीं होगी बल्कि यह समाज में चल रहे ठोस वर्ग संघर्ष का परिणाम होगी। मानव समाज के इतिहास में एक निश्चित स्थिति में वर्ग पैदा हुए। तब से आज तक का सारा इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है। इसी वर्ग-संघर्ष ने इतिहास को गति प्रदान की है। यह वर्ग संघर्ष मानव समाज को वर्तमान पूंजीवादी समाज तक ले आया है। इस बुर्जुआ समाज में बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के बीच भीषण वर्ग-संघर्ष चल रहा है। इस वर्ग-संघर्ष की परिणति एक दिन सर्वहारा द्वारा बुर्जुआ सत्ता को उखाड़ फेंकने और सर्वहारा सत्ता कायम करने में होगी। यहां से सर्वहारा तानाशाही के अधीन संक्रमण का वह दौर शुरू होगा जो अंततः वर्ग विहीन, राज्य विहीन कम्युनिस्ट समाज तक ले जायेगा। सर्वहारा वर्ग इस समूची रूपान्तरण की प्रक्रिया का वाहक होगा। इतिहास ने इसी वर्ग के कन्धों पर यह जिम्मेदारी सौंपी है। यही इस वर्ग का ऐतिहासिक मिशन है। यह समूची ऐतिहासिक गति वस्तुगत है, मानवीय इच्छाओं से स्वतंत्र है। इसकी बुनियादी चालक शक्ति है पूंजीवादी समाज के भीतर उत्पादक शक्तियों और उत्पादन संबंधों के बीच तीखा होता जाता अंतर्विरोध जिसमें उत्पादन तो अधिकाधिक सामूहिक होता जा रहा है पर उत्पादन का हस्तगतकरण व्यक्तिगत बना हुआ है। यह अंतर्विरोध न केवल बुर्जुआ और सर्वहारा के बीच तीखे अंतर्विरोध में अभिव्यक्त होता है बल्कि वह सर्वहारा वर्ग में उसके ऐतिहासिक मिशन की चेतना भी पैदा करता है। सबसे पहले उसके आगे बढ़े हुए तत्वों में पैदा हुई चेतना (जो स्वयं को सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी पार्टी में संगठित करते हैं) क्रमशः इसके व्यापक हिस्सों में फैलती जाती है और उन्हें संगठित करती जाती है यह सब सर्वहारा द्वारा सत्ता पर कब्जा और उत्पादन के साधनों का उसके राज्य के हाथों में हस्तांतरण तक पहुंचाता है जहां से कम्युनिज्म तक की संक्रमण की यात्रा शुरू होती है। मार्क्सवाद और कुछ नहीं इन्हीं सब को सुसंगत ढंग से प्रस्तुत करने वाला सर्वहारा वर्ग का दर्शन है जो उसे उसकी राह दिखाता है।

अतीत में पहले भी सर्वहारा वर्ग द्वारा एक बार यह यात्रा शुरू की गई थी पर जो कुछ समय बाद खंडित हो गई। बुर्जुआ वर्ग ने इस यात्रा के खंडन पर बहुत गाल बजाये। उसने बढ़-चढ़कर घोषित किया कि उसका उदार बुर्जुआ जनतंत्र ही मानवता की अंतिम नियति है। बस ऐसा करते समय वह इस सच्चाई को छिपा ले गया कि उसके इस जनतंत्र में बहुत कुछ सर्वहारा वर्ग की अतीत की उस यात्रा की वजह से ही है। असल में उसमें जो कुछ भी मानवीय है वह उसी वजह से है। इसके उलट जो कुछ भी बर्बर है वह बुर्जुआ की

वजह से है। बुर्जुआ को अपने हाल पर छोड़ दिया जाये तो वह बर्बरता की सारी हदें पर कर देगा क्योंकि जैसा कि एक बर्जुआ ने ही कहा था कि यदि पूंजी को हजार प्रतिशत का मुनाफा हो तो ऐसा कोई अपराध नहीं है जो वह न कर सके।

सर्वहारा वर्ग की अतीत की यात्रा ने उसकी भविष्य की यात्रा के लिए काफी कुछ जमीन तैयार की। अबकी बार यात्रा शुरू होने पर शायद वह बीच में खंडित न हो। पर यदि वह खंडित हुई तो भी कोई चिंता की बात नहीं। वह नये सिरे से परवान चढ़ेगी। बुर्जुआ समाज का पराभव और कम्युनिज्म का उदय एक ऐतिहासिक गति है जिसे रोका नहीं जा सकता। नायकत्व विहीन बुर्जुआ वर्ग पहले ही ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो चुका है। उसमें दम नहीं कि वह इस गति की अनुल्लंघनीय बाधा बन सके।

कम्युनिज्म मानवता का भविष्य है, इसलिए नहीं कि कम्युनिस्ट ऐसा सोचते हैं या ऐसा चाहते हैं। बल्कि इतिहास की गति मानव समाज को उधर की ओर ले जा रही है, पूंजीवादी समाज के अंतर्विरोध उसे उधर ले जा रहे हैं। ऐतिहासिक तौर पर पूंजीवाद की भूमिका भविष्य के कम्युनिस्ट समाज के लिए पूर्वाधार तैयार करने की रही है। इसी में इसकी सारी प्रगतिशीलता निहित है। अन्यथा तो पूंजीवाद शुरू से अंत तक पीब और खून से नहाया रहा है। पूंजी सिर से पांव तक खून से डूबी हुई अस्तित्व में आई है और हमेशा इसमें डूबी रही है। इसका मानवीय चेहरा इसका अपना चेहरा नहीं रहा है। आज बुर्जुआ समाज बर्बरता की हदें पार कर रहा है। इसके एक पैरोकार ने 1996 में ही कहा था कि मानवता पर एक अंधेरे का युग अवतरित हो रहा है। बीते दो दशकों में यह अंधेरा और घना हो गया है। आज पहले से कहीं ज्यादा जरूरी और संभव हो गया है कि बर्बरता के इस युग को समाप्त किया जाये। मानवता को उसके भविष्य में ले जाया जाये।

■■■